संस्कृत-विश्वविद्यालयग्रन्थमालायाः 21 पुष्पम्

कबीर-वाणी

स्वामि बोधानन्दकृतया
विज्ञानबीजक-प्रकाशिकया समन्विता

(भाग-II)

कबीर वाणी

स्वामिबोधानन्द-व्याख्या

संस्कृत-विश्वविद्यालय-ग्रन्थमालायाः 21 पुष्पम्

कबीर-वाणी

स्वामि बोधानन्दकृतया विज्ञानबीजक-प्रकाशिकया समन्विता

[भाग - II]

समुद्धारकः

हिन्दी व्याख्याकृत्

विद्यावाचस्पति डॉ० हरिहर त्रिवेदी

डी० लिट्०

प्रधान-सम्पादकः

डॉ. मण्डनमिश्रः

प्राचार्यः

सम्पादकः

डॉ. ब्रह्ममित्र अवस्थी

आचार्यः

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः

नई दिल्ली-110016

प्रकाशकः

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः

बी-4, कुतुबसांस्थानिकक्षेत्रम्, नवदेहली-110016

© प्रकाशकाधीनम्

प्रकाशनवर्ष : 1986

पुनर्मुद्रणम् - 2025

ISBN : 978-81-972035-1-0

मूल्यम् : ₹ 1300.00 (दो भाग)

मुद्रकः

डी.वी. प्रिन्टर्स

97-यू.बी., जवाहरनगरम्, देहली-110007

सम्पादकीयम्

ईसा की दसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में जब भारत में विदेशियों के आक्रमण प्रारम्भ हुए और आक्रमणकारी मुसलमान विजयी होकर मूर्तिभ जन और इस्लाम के प्रचार प्रयत्न में संलग्न थे। उसी समय इधर देश में विविध मतमतान्तरवादी पण्डितों के परस्पर विवाद (शास्त्रार्थ) हो रहे थे। वेदान्त के भी अनेक सम्प्रदाय प्रचलित थे। एकता का किसी क्षेत्र में दर्शन भी न था। दूसरी ओर बाहरी शत्रुओं के सामने सभी को एक हो जाना आवश्यक था। अतः मतभेदों को छोड़कर एक होना सामयिक अनिवार्यता हो रही थी। इसके अतिरिक्त इस्लामिक दर्शन के प्रभाव से एकेश्वरवाद जो भारतीय चिन्तन के मूल में पहले से था, विशेष रूप से पनपने लगा। ईश्वर (ब्रह्म) की एकता, निराकारता आदि के सर्वसम्मत होने पर भी वह जन-सामान्य का अवलम्ब बन नहीं पा रहा था।

ऐसे ही समय में भगवद्गीता का प्राबल्य प्रारम्भ हुआ और साथ ही इस क्रान्तिकारी युग में अनेक सन्तों का प्रादुर्भाव हुआ, जिनमें चैतन्य, रामानन्द, कबीर, नानक प्रमुख हैं। इन सन्तों का प्रभाव यह हुआ कि भक्ति की धारा उन्मुक्त रूप में प्रवाहित होने लगी। इस भगवद्भक्ति ने निरन्तर पराजय को प्राप्त हो रही हिन्दू जाति को अवलम्ब प्रदान किया और अमृत की भांति इसे जीवन भी दिया। आज के व्यापक असन्तोष के समय में इन सन्तों के साहित्य के अध्ययन का महत्व बढ़ जाता है। क्योंकि कबीर भी भक्ति की धारा को सशक्त बनाने वाले कवियों में अन्यतम हैं, अतः उनके साहित्य के अध्ययन का भी विशेष महत्व है। कबीर साहित्य की हिन्दी भाषा में अनेक टीकाएं है। श्री हनुमान व्यास की संस्कृत टीका भी है, किन्तु बोधानन्द की टीका अब तक अज्ञात रही हैं। इसकी उपलब्धि एक अनुपम उपलब्धि है। संस्कृत भाषा में लिखी हुई इस टीका में कबीर के प्रत्येक पद्य पर-पहले कठिन शब्दों के अर्थ, फिर स्पष्टीकरण तात्पर्य और अन्त में आवश्यतानुसार वेद, उपनिषद्, गीता पुराण आदि से उद्धरण प्रस्तुत हुए हैं। यह व्याख्या पाण्डित्यपूर्ण है। इसका उद्धार डा० हरिहर त्रिवेदी ने किया है। हस्तलिखित पोथी, कब, कहाँ, कैसे मिली इसे उन्होंने स्वयं अपने 'आमुख' में स्पष्ट किया है। इसके समुद्धार में किस-किस प्रकार की कठिनाईयों का सामना उन्हें करना पड़ा है इसकी चर्चा भी उन्होंने विस्तारपूर्वक की हैं। पोथी के बारे में भी आमुख में कहा ही है।

आशा है यह व्याख्या और संपादन कबीर साहित्य पर नूतन प्रकाश वितरित करेगा और उन गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न करेगा, जो आज की समस्याएं बनी हैं। व्याख्याकार के साथ समुद्धारक के प्रगाढ़ पाण्डित्य को यह कृति विद्योतित करती रहेगी।

डा० त्रिवेदी ने अपने आमुख में धर्म के विविध पन्थों के उत्थान और प्रसार का ऐतिहासिक महत्त्व संक्षेप में देकर बतलाया है कि कबीर के समय में जितने अनेक मत प्रचारित थे, उनमें जनता की आस्था स्थिर रूप न ग्रहण कर सकी।

शांकर दर्शन में ज्ञान प्रमुख है, पर वैष्णव दर्शनों में ज्ञान का स्थान भक्ति ने ले लिया। कबीर ने दोनों मतवादों को दूर कर सामान्य सिद्धान्तों का मधुर सम्मेलन किया है, यद्यपि वे किसी को झिडकने में भी नहीं चूके। समय-समय पर उन्होंने कर्मकाण्ड, पाखण्ड, हिंसा आदि की तीव्र भर्त्सना की है।

आत्मज्ञान के आधार पर भक्ति का आश्रय, यही सन्त कबीर का मूल मन्त्र है। उनके उपास्यदेव निर्गुण ब्रह्म हैं, जिनका नाम राम है, हरि और उनके अन्य पर्याय भी उनकी रचना मे आते है। उन्होंने ज्ञान को भक्ति का एक आवश्यक उपकरण बतलाया है।

कबीरवाणी एक विशाल आम्रवृक्ष है, यह कहना अत्युक्ति न होगी। भक्ति का बीज वेद, उपनिषद् आदि ग्रन्थों में बोया गया था, रामानुज आदि के समय में वह पौधा बढ़ने लगा, इसी समय रामानन्द अवतरित हुए जिन्होंने जन-सामान्य की मातृभाषा में अपने सिद्धान्तों के प्रचार का बीड़ा उठाया, उनके समय इस वृक्ष की टहनियां बढ़ने लगी, उनका विस्तार होने लगा और इसके फलों का रसास्वादन अन्त में कवि कबीर ने हमें कराया।

इस सन्त की सबसे बड़ी देन स्वानुभूति है, जिसका विवरण इस ग्रन्थ के दूसरे भाग 'सारणी' (प्रकाशनीय) में संपादक ने किया है। 'ग्रन्थ अनेक, मतवाद अनेक' उनके पचड़े में न पड़कर निर्गुण ब्रह्म की उपासना पर जोर कबीर ने दिया और टीकाकार ने उसका समुचित उन्मीलन किया है।

इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संस्कृत टीका के उद्धारक डा० हरिहर त्रिवेदी ने बयासी वर्ष की इस आयु में भी जिस तत्परता से कार्य किया है, यह उनके सहज विद्याव्यसन का परिणाम है। ईश्वर उन्हें शताधिक आयु और यथेष्ट सामर्थ्य उत्साह प्रदान करें, जिससे इस ग्रन्थ के शेष भाग के साथ-साथ उनकी अन्य रचनाएं भी संस्कृत साहित्य की अभिवृद्धि कर सकें। इस ग्रन्थ की हस्तलिखित पोथी डा० लक्ष्मण नारायण शुक्ल (प्राध्यापक-संस्कृत महाविद्यालय, इन्दौर) के सौजन्य से उन्हें सुलभ हो सकी है। यह उपलब्धि ही इस महान कार्य के मूल में है। इसके लिए वे अनेकशः धन्यवाद पात्र है। इस ग्रन्थ को प्रकाश में लाने में न चाहते हुए भी पर्याप्त अनपेक्षित विलम्ब हुआ है, साथ ही इसके मुद्रण आदि में अनेक भूलों की संभावना भी हो सकती है। आशा है विद्वान् पाठक इसके लिए हमें क्षमा करेंगे।

—डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी
आचार्य
अनुसन्धान संकाय
श्री लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
शहीदजीतसिंह मार्ग, नई दिल्ली-११००१६

प्रधान-सम्पादकीयम्

हिन्दीभाषासाहित्यव्योम्नि गीष्पतिरिव विद्योतमानस्य सन्तकवेः कबीरस्य रचनाया अद्यावधि ह्यज्ञातेन बोधानन्दस्वामिना विहिताया व्याख्यायाः सम्पादन-स्वरूप प्रथमत एव प्रकाशयताममन्दमानन्दमनुभवतामस्माकं मनो भृशं मोदते।

वेदोपनिषच्छास्त्रोद्धरणैः परिपुष्टा पाण्डित्यमण्डिता वैदुष्यविभूषिता श्रीबोधानन्द-स्वामिना गीर्वाणवाण्यां विरचितैषा व्याख्या इतः पूर्वं दृष्टिपथमागतास्सकलाष्टीका अतिशेते, तथैवास्या सम्पादनम् अपि पुरातत्त्वशास्त्रे प्रथितयशसा, साहित्यवेदान्तपुराणेतिहास-प्रभृतिशास्त्रालोचनपटीयसाऽनेकग्रन्थसम्पादनोपलब्धप्रावीण्येन निर्मलमतिना साहित्य-वाचस्पति डी०लिट्० काव्यतीर्थेत्याद्युपाधिविभूषितेन श्रीमता डॉ० हरिहरत्रिवेद महाभागेन विहितमिति निवेदयन्तः परमानन्दतुन्दिला वयम्।

भारतीयेतिहासस्य मध्ययुगीनं हिन्दीभाषासाहित्यमाध्यात्मिकसमृद्धया सम्पन्नत्वात् स्वर्णयुगपरकम्, विषयवर्गीकरणदृष्ट्या भक्तिकालकोटिमाटीकते। मानवतायाः पथ-प्रदर्शिन्याः सन्तपरम्परायाः जाज्वल्यमानं रत्नं, भविष्यद् दृष्ट्या समुज्ज्वलो समाजसुधारकः कबीरोऽस्मिन्नेव काले जनिमवाप्य निखिलेष्वपि सम्प्रदायेष्वभेदभावं प्रत्यपादयत्।

आधुनिकपरिस्थितिसन्दर्भे नानाविधचिन्तासन्तानसन्दानित-मानव-सङ्कुलेऽस्मिन् संसारे महात्मनः कबीरस्य तज्जीवनदर्शनस्य च महत्युपादेयता सम्प्रति समनुभूयते। सन्त-कबीरमहाभागस्य स्नेहेनासिक्तानामेकतासन्देशानां सम्प्रसारणस्य यादृश्यनिवार्यतावश्यकता चेदानीमनुभूयते न तादृशी पूर्वमनुभूताऽऽसीत् सा। वेदोपनिषत्पुराणस्मृतीरवलम्ब्य कल्याण-साधको निखिलैरभ्यर्थनीयः कबीरप्रतिपादितो धर्ममार्गः सर्वेषां मानवानामैहिकामुष्मिक-कल्याणराशिवितरणाय क्षमते इति न विद्यते संशयकणिका मनागपि।

पुण्यात्मनः कबीरस्य जीवनदर्शनचिन्तनसन्दृब्धां लोकमूलकमङ्गलमूलायमानां कबीर-बीजक-प्रकाशिकाख्यां कबीरसदभिप्रायविस्तारिणीं संस्कृतव्याख्यां श्रीमद्भिः पण्डित मण्डलीमुकुटतटीमाणिक्यशेखरैः कविवर्यैः श्रीत्रिवेदमहाभागैः सरसेन सरलेन च वैदुष्यपूर्णेन भूमिकाभागेन समलङ्कृत्य सम्पाद्य चानया रचनया नूनमेवाधमर्णतां नीतः कबीरसाहित्य-रसलुब्धः सहृदयसमाजः समीक्षकवर्गश्चेति निश्चप्रचम्। आकारतो ह्रस्वकायोऽप्ययं ग्रन्थो गौरवेण दीर्घं माहात्म्यमावहति।

ये खलु नव्याः पण्डितम्मन्याः समीक्षकतल्लजाः संस्कृतभाषाविदां भारतीयपण्डि-तानां कामप्यकर्मण्यतां मुहुर्मुहुः प्रतिपादयन्तस्तेषां च कूपमण्डूकतां तारस्वरेण समुद्घोषयन्तो-ऽकाण्डताण्डवान्नैव विरमन्ति, ये च मुधा गीर्वाणवाणीसमुपासकानां मस्तकेषु समयानभि-

ज्ञताप्रयुक्तमपवादकलङ्कं मुहुर्मुहुरुत्क्षिपन्ति, ते इतः पूर्वं न केनाप्यासादितं श्रीबोधानन्द विरचितं डा०हरिहरत्रिवेदमहाभागैश्च सम्पादितं ग्रन्थरत्नमिदं वारं वारमनुशीलयन्तः स्वीयान् विचारानेतद्विषयकान् परिशोधयिष्यन्तीति मे दृढो विश्वासः ।

ग्रन्थोऽयं पाण्डित्यपूर्णो वेदोपनिषच्छास्त्रोद्धरणैः परिपुष्ट-इतिहासपुराणस्मृति-तथ्यमण्डितः प्रामाणिकश्चेति नास्ति संशयस्यावकाशः । मन्ये कृतिरियं न चिरेणैव प्रचुरेण प्रचारेण विद्वत्समीक्षकसाक्षितामापन्ना कबीरसाहित्यरसिकेषु सहृदयेषु स्व प्रसृतिमादधाना विपश्चितां मनांसि रञ्जयिष्यतीति ।

भारतवर्षस्य भूमिर्यथा प्रकृत्या मनोरमा, तथैवास्या अन्तरङ्गोऽपि मनोहरो निश्छलो गभीरोऽविस्मरणीयः । दर्शनविषये आत्मविद्यायां चास्माकं जगद्वन्द्यता च विख्यातैव । अत्रत्या दार्शनिकाः नानादेशान् गमिकर्मीकृत्य स्वीयान् आध्यात्मिक-भौतिकोभयविषयप्रति-पादकान् स्वविचारान् प्रचारयन्तो भारतभूमेर्भूयसीं प्रशस्तिपरम्परां समुद्घोषयन्तो विद्वांसो ग्रन्थाश्च नास्मात् कथमपि विरमन्ति, यथा—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि, धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते, भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥

(विष्णुपुराणे, २।३।२४)

निरन्तरं सदाचारोपदेशिनी भ्रातृभावमुपदिशन्ती भारतीया संस्कृतिरेव सर्वासु संस्कृतिषु मूर्धन्यभावं भजते । भारतीयाश्चिन्तकाः **'दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ'** इति समवलम्ब्य जगत्स्रष्टारमीश्वरं ज्ञातुं तत्साहचर्यञ्चाधिगन्तुं प्रयत्नानादिकालादेव प्रारभन्त । यत्रादौ श्रीमद्भिः शङ्कराचार्यैर्वेदान्तस्याद्वैतपरं स्वरूपं प्रस्तुतम् । तदनु श्रीरामानुज-माध्व-निम्बार्क-वल्लभाचार्यप्रभृतय ईश्वरविषयकानि स्वस्वमतानि प्रतिपाद्य ध्यान-कर्म-भक्ति-तत्त्वानि प्रास्तुवन् । भक्तिविषये रामनन्दस्य शिष्यः कबीर एव प्रथमोपदेशकः, विशेषतया जनसामान्ये ।

कबीरसाहित्ये **'बीजक'** नामधेयो ग्रन्थो विख्यात एव, तस्य च त्रयो भागाः— **रमैनी, साखी, सबद** (शब्द) पदैरवगताः । एषां भागानां हस्तलिखिता मातृका श्रीमद्भि-र्लक्ष्मणनारायणशुक्लमहोदयैरुपलब्धा, ताञ्चावलम्ब्य प्रथमो भागः सम्पादितस्त्रिवेदमहोदयै रित्येतत् सविस्तरं प्रदर्शितमेवामुखभागे सम्पादकेन । अतः श्रीशुक्लमहोदया अप्यस्माकं साधुवादमर्हन्ति । अस्य ग्रन्थस्य प्रकाशन-भूमिकापूर्वं शोधप्रभाया अङ्के परिचायक लेख-रूपेणान्यस्मिन्नङ्के च कियतश्चिदंशस्य प्रकाशनेन तथा डॉ०त्रिवेदमहोदयेभ्यः सतत-मुत्साहप्रदानपूर्वकं हस्तलिपेर्विद्यापीठायोपलम्भयितुं तेषामनुरागभाजो **डॉ. रुद्रदेवत्रिपाठिनोऽपि** धन्यवादार्हाः ।

अन्ते च, स्वस्यायुषो द्व्यशीतितमे हायनेऽस्य ग्रन्थस्य सम्पादने कृतश्रमो **डॉ० हरिहरस्त्रिवेदी** तथा तस्य प्रतिभाजलेन सिक्तैषा कृतिः (प्रथमो भागः) कल्पद्रुमायतामिति मत्वा कबीरसाहित्यजिज्ञासूनां सुधीनां छात्राणां चोपयोगार्हा भविष्यतीति मत्वा चैनां कृति-मुपहरामो विदुषां पुरतः ।

—डा० मण्डन मिश्रः
प्राचार्यः प्रधानसम्पादकश्च

आमुख

१

प्रास्ताविक

देश के मध्ययुगीन इतिहास में भक्ति आन्दोलन एक महत्त्वपूर्ण घटना है। उत्तर भारत में भक्ति-साधना को जन-जन तक पहुँचाने का श्रेय रामानन्द और कबीर को दिया जाता है। सोलहवीं शती के उत्तरार्ध में तथा सिकन्दर लोदी [१४८९-१५१७ ई०] के समकालीन सन्त कवि कबीर समाज-सुधारक, सत्पुरुष एवं स्पष्ट और निर्भीक वक्ता थे और इसी कारण उनके शिष्य तथा अनुयायी भारत में सर्वत्र पाए जाते हैं। उनके नाम से प्रचलित विभिन्न कृतियों की संख्या बहुत बड़ी है और उनमें रमैनी सब्द [शब्द], एवं साखी का नाम प्रमुखतः लिया जाता है।

यह हर्ष का विषय है, कि इस सन्त कवि का नाम दिन प्रतिदिन महत्त्वपूर्ण होता जा रहा है और इस विषय में विद्वानों द्वारा की गई खोज में अनेक नए तथ्य प्रकट हो रहे हैं। उनकी रचना के प्रामाणिक पाठ-निर्धारण करने में भी अनेक विशेषज्ञ जुटे हैं।

इस कवि की रचना पर हिन्दी में अनेक टीकाएँ हैं, जिनमें से बहुत सी प्रकाशित हो चुकी हैं। इनकी 'विज्ञान-बीज' या बीजक नाम की कृति स्वामी हनुमानदास विरचित 'स्वानुभूति' नाम की संस्कृत व्याख्या के साथ, कबीर प्रेस बड़ौदा से सन् १९३६ में प्रकाशित हुई है। संस्कृत भाषा में बीजक की टीका की यही एक प्रति मिलती है, जिसके संशोधक के वक्तव्य में ये पंक्तियाँ उद्धृत हैं—

"गरीब साहब के पन्थवाले गरीबदासी महात्मा श्री बोधानन्द जी की बनाई हुई गद्यरूप एक संस्कृत व्याख्या भी है, जो श्रुति और स्मृतियों के प्रमाणों से पुष्ट है। इस संस्कृत टीका के छपे हुए तीन ही पत्र मेरे पास है। मैं ख्याल करता हूं की दुष्ट काल ने उसका छपना रोक दिया, इसलिए उतनी सी छपी और नष्ट हो गयी। परन्तु इस बीजक ग्रन्थ की संस्कृत पद्यरूप व्याख्या मेरी दृष्टि में आज तक नहीं आई।"

पुस्तक का विवरण

जैसा कि ज्ञात हुआ है, बोधानन्द नामक विद्वान् की, कबीर-वाणी की हस्तलिखित प्रति के खुले पत्र स्थानीय संस्कृत महाविद्यालय के सहायक प्राध्यापक डॉक्टर लक्ष्मण नारायण शुक्ल ने सन् १९६७ में ग्वालियर में रद्दी में खरीदे थे, और उन्होंने उन पत्रों को व्यवस्थित रूप में जमाकर उनकी चार जिल्द बंधवाई थीं। अप्रैल १९७० की स्थानीय 'वीणा' नाम की मासिक पत्रिका में उन्होंने इस उपलब्धि पर एक टिप्पणी भी प्रकाशित की थी। किन्तु दुर्भाग्यवश काम आगे नहीं बढ़ पाया। अभी लगभग ४-५ माह पूर्व उन्होंने वे जिल्दें मुझे दिखाई। कुछ समय तक पढ़ने के पश्चात् मैंने इस कृति का महत्त्व जाना और इसे विद्वानों की दृष्टि में लाने तथा भक्ति-साहित्य में योगदान देने की अभिलाषा से प्रेरित होकर निर्धारण किया कि ऐसे अप्रतिम योग-दान से हमारे साहित्य की श्री-वृद्धि होगी। ऐसी विस्तृत एवं पाण्डित्य-पूर्ण व्याख्या आज तक किसी मुद्रित ग्रन्थ में मेरे देखने में नहीं आई, अतः मैं यह निस्सन्देह रूप से कह सकता हूं कि कबीर-साहित्य के अध्ययन के लिए यह व्याख्या असाधारण सामग्री प्रस्तुत करती है।

बोधानन्द की इस व्याख्या की मूल प्रति अनुपलब्ध ही है। मेरा कार्य उसकी एक प्रतिलिपि पर आधारित है, जिसका लेखन 'विष्णु' नाम के किसी चित्पावन ब्राह्मण ने (वि०) संवत् १९३४ में ज्येष्ठ शुक्ल द्वादशी के दिन समाप्त किया था। उसकी पुष्पिका का वह अंश इस प्रकार है:—

हरिः ॐ तत्सदिती श्रीमत्सद्गुरु पूज्य कबीर चर्णाब्जभृंगायमान—बोधानन्देन विज्ञानबीजक-प्रकाशिकायां विरहुली व्याख्या समाप्तिमगमत्। श्री सद्गुरुचरणार्पणमस्तु। संवत् १९३४ ज्येष्ठ शुक्ल १२ द्वादश्यां शुक्रे विष्णावेन (?) दाक्षिणात्यचित्पावन-ब्राह्मणेन इमं पुस्तकं लिखितम्। श्रीगुरुवे परमात्मने नमोनमः।

इन पंक्तियों में अशुद्धियों की भरमार है, उदाहरणार्थ, 'चरण' को 'चर्ण' लिखा है। 'विष्णावेन' का शुद्ध रूप वैष्णावेन भी ले सकते हैं, किन्तु सम्भवतः यह विष्णु इस नाम का निर्देशक है। वस्तुतः इस स्थान पर 'विष्णुना' होना चाहिए था।

इसी प्रकार की लिपिकार की अशुद्धियां सारे ग्रन्थ में पाई जाती हैं, यद्यपि अक्षर स्पष्ट और सुवाच्य हैं।

उक्त पुस्तक ३२×१७.५ सेंटीमीटर के आकार के हल्के नीले रंग के सफेद मोटे विदेशी कागज पर देवनागरी लिपि में लिखी गई है। रमैनी-भाग की

पोथी की कुल पृष्ठ-संख्या ६२ है। अन्तिम को छोड़ कर सभी पृष्ठ दोनों ओर लिखे हुए हैं। दो पृष्ठ का एक पृष्ठ गिना गया है और प्रत्येक पर दाहिनी और बाईं बाजू ३.५ से० तथा ऊपर और नीचे २.५ से० हाशिया छोड़ कर लिखावट हैं। पत्र के प्रत्येक अर्धांश में ग्यारह पंक्तियां हैं, जिनमें बीच की तीन या चार पंक्तियों में रमैनियां और उसके ऊपर चार या पांच और नीचे उतनी ही पंक्तियों में व्याख्या लिखी गई है। पृष्ठ संख्या ऊपर बाईं ओर और नीचे दाहिनी ओर दी गई है। प्रत्येक पृष्ठ के हाशिये में क्रमशः बाईं और दाहिनी ओर व्याख्या का नाम "विज्ञानबीज-प्रकाशिका" दो टुकड़ों में लिखा हुआ है। मूल रमैनी और व्याख्या का अन्तिम शेषांश कहीं कहीं हाशिए में भी लिखा है, और लिखावट की अपूर्ण पंक्तियों को "श्रीगुरुपरमात्मने नमः, गुरवे नमः, श्रीरामाय नमः, श्रीराम' और इन्हीं सरीखे अन्य शब्दों से या 'छ'-अक्षर से पूर्ण भी किया गया है।

प्रत्येक रमैनी और उसकी व्याख्या के अन्त में उसकी संख्या अंकित है जिसके दोनों ओर थोड़ा सा स्थान छोड़ दिया है। केवल अन्तिम रमैनी को छोड़ कर संख्या के दोनों ओर खड़ी पाई कहीं नहीं है। रमैनी संख्या ८० और ८१ के दहाई के अंक के सिरे पर वक्राकार चिह्न बनाकर उसका आकार ६ कर दिया है।

अक्षर सरणि, आदि

लिखावट के अक्षर स्पष्ट और सुवाच्य हैं और काली स्याही से एक ही प्रकार की लेखनी से जमा कर लिखे गये हैं। फिर भी, सारी लिखावट देखने से पता चलता है कि लेखक ने बिना समझे अक्षरों की केवल नकल की है। अक्षर एक के बाद एक लिखा गया है, प्रत्येक शब्द पृथक् नहीं किया है और न दो शब्दों के बीच स्थान ही छोड़ा है। ऐसे उदाहरण भी पाए जाते हैं, जिनमें प्रायः समानाकार अक्षरों में लेखक को भ्रम हो गया है, जैसे च-व-ब, घ-ध, न-म-स, प-य, द-ड, आदि। मात्रा की अशुद्धियों के तो अनेक उदाहरण हैं, जैसे किन्हो (कीन्हो), भाया (भया), जैस (जस) आदि। ह्रस्व 'उ' की मात्रा अक्षर की खड़ी पाई के दाहिनी ओर बीच में लगाई है। अनुनासिक के स्थान पर सर्वत्र अनुस्वार का ही प्रयोग है, सम्भवतः मूल लिपि में भी वैसा ही हो। विरामादि चिह्नों का तो सर्वत्र अभाव ही है। कहीं कहीं अनुस्वार और ऊर्ध्व-मात्राएँ छोड़ दी गई हैं और कहीं अनावश्यक अनुस्वार का प्रयोग भी किया गया है। 'नर' शब्द को सर्वत्र 'नल' लिखा है और रमैनी ६३ में 'शेख' के स्थान पर 'शेष' पाया जाता है।

अनेक स्थलों पर लेखक ने स्वयं अपनी अशुद्धियों को उसी स्थल पर दुरुस्त किया है, अक्षर के ऊपर ही दूसरा अक्षर बना कर या काट कर। अनेक स्थलों पर छूटा हुआ अक्षर या अंश पंक्ति के ऊपर या नीचे के हाशिए में लिखा है और उनमें से बिरले स्थानों पर बाणाकृति या अर्धचन्द्राकार भी बनाया है। भूल से लिखे अनावश्यक अक्षरों को कहीं ऊपर दो या तीन बिन्दुओं से अथवा दो सीधी समानान्तर रेखाओं से अंकित किया है और विरले उदाहरणों में उन्हें हरताल से पोत भी दिया है (देखिए पृ० ११, १५-१६)। छन्दोभंग के अनेक उदाहरण हैं।

इन सब के अतिरिक्त बिरले स्थलों पर किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किया हुआ सुधार भी पाया जाता है। यह सुधार फीकी काली स्याही से किया गया है।

इन सब कारणों से तथा अन्य प्रकार की अशुद्धियों से अक्षर सुवाच्य होने पर भी उनके उचित पठन और उनमें पारस्परिक संगति स्थापित करने का कार्य कितना कष्टसाध्य हो जाता है, इसका अनुमान केवल भुक्तभोगी ही लगा सकता है।

व्याख्याकार बोधानन्द

व्याख्याकार बोधानन्द के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है। फिर भी, उसके द्वारा स्वयं के लिए प्रयुक्त 'सद्गुरु-कबीर-चरण-भृंगायमान'' इस विशेषण से अनुमान यही है कि वह कबीर का शिष्य था, यद्यपि यह मत सन्देहास्पद है, क्योंकि कबीर के आसन को अलंकृत करने वाले उसके परवर्ती सन्त भी सम्भवतः इसी नाम से सम्बोधित होते हों। किन्तु तत्कालीन राजनैतिक और सामाजिक परिस्थिति का विचार करने पर इन दोनों में पहला ही मत अधिक सम्भाव्य प्रतीत होता है। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि सिकन्दर शाह लोदी हिन्दू धर्म का विरोधी और विद्वेषक था और उसी से त्रस्त होकर स्वयं कबीर को काशी छोड़ कर मगहर जाना पड़ा था।[1] इतिहास यह भी बतलाता है कि इसी सुल्तान ने बोधन नाम के एक ब्राह्मण को, जो राम और रहीम की अभिन्नता स्थापित करता था, मृत्यु-दण्ड दिया था।[2] इस ज्ञात तथ्य के आधार पर हमारी मान्यता है कि सिकन्दर द्वारा शूली पर चढ़ाया गया बोधन ही प्रस्तुत ग्रन्थ का व्याख्याकार

---

१. दि देल्ही सुल्तानेट (भारतीय विद्या भवन, जिल्द ५) पृ० ५६१. 'मगहर कीनो गौन' में यह स्पष्ट है।

२. पूर्वोक्त ग्रन्थ; पृ० १४७।

बोधानन्द है। मुस्लिम इतिहास लेखकों की कृतियों में नामों के इस प्रकार परिवर्तनों और विकृतियों से हम भली भाँति परिचित हैं।

पीताम्बर दास बड़थ्वाल ने अपनी रचना "निर्गुण स्कूल ऑफ हिन्दी पोएट्री" के पृष्ठ ९३ पर बतलाया है कि दादू दयाल (सं० १६०१-६०) ने अपनो गुरु-परम्परा में ऊपर की पाँचवीं पीढ़ी में बुड्ढन या बोधन यह नाम दिया है।[3] यदि प्रत्येक पीढ़ी को २५ वर्षों का समय दिया जाए, तो दादू दयाल की मृत्यु के वर्ष से एक सौ पचीस वर्ष पहले अर्थात् १५३५ में बोधन (बोधानन्द) जीवित थे, यही मानना पड़ेगा। यह वर्ष कबीर के जीवन के उत्तरार्ध में ही समाविष्ट होता है, जैसा कि हम इस सन्त के जीवन-काल का निर्णय करते समय देखेंगे।

इस व्याख्या में राम और रहीम की एकता विशेष रूप से प्रतिपादित की गई है, इससे भी उक्त मत की पुष्टि होती है। इस सम्बन्ध में एक तर्क और भी है। कबीर के गुरु रामानन्द के बारह में से सात प्रधान शिष्यों के नाम का उत्तर-पद 'आनन्द' है। ये नाम हैं—आशानन्द, सुरासुरानन्द, सुखानन्द, परमानन्द, महानन्द, भवानन्द और श्री-आनन्द। यद्यपि निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, फिर भी, यह भी सम्भावना है कि "आनन्दान्त" नाम की यही पूर्व परम्परा बोधानन्द नाम में भी पाई जाती है।

व्याख्याकार बोधानन्द कबीर का शिष्य था यह मत स्वीकार करने पर एक और बात परिलक्षित होती है। इतिहास के अनुसार सिकन्दर लोदी ने ग्वालियर पर आक्रमण के समय में बोधन को फांसी की सजा दी थी। यदि यह भी अनुमान किया जाए कि बोधन या बोधानन्द का निवास ग्वालियर के निकट था, तो उसकी रची हुई व्याख्या की प्रतिलिपि ग्वालियर में प्राप्त होना, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, असम्भव नहीं है।

बोधानन्द की व्याख्या की विशेषताएँ

उपर्युक्त मत मान्य होने पर सन्त कबीर की कृति की इस व्याख्या का महत्त्व बढ़ जाता है, जबकि यह उनके शिष्य की हो रचना है, जिसमें उनके सिद्धांत यथार्थ रूप से प्रतिबिम्बित होते हैं।

---

३. निर्गुण स्कूल ऑफ हिन्दी पोएट्री (बड़थ्वाल) पृ० ८३।

उद्देश्य

मेरा प्रमुख उद्देश्य प्रस्तुत व्याख्या का सम्पादन करना ही है। इस व्याख्या में संस्कृत के अन्यान्य टीकाकारों का अनुसरण किया गया है, जैसे, पहले रमैनी में प्रयुक्त हुआ मूल हिन्दी शब्द, फिर उसका संस्कृत पर्याय, तदनन्तर सारे वाक्य की संगति, तात्पर्य, विवेचना, भावार्थ, स्पष्टीकरण और आवश्यकतानुसार उस की पुष्टि में श्रुति, उपनिषद् और गीता की पंक्तियों का उल्लेख है। यह शैली हनुमान दास जी की शैली से भिन्न है, जिसमें कबीर के पदों के अनुसरण में उनके स्वनिर्मित संस्कृत श्लोक दिए हैं और उनके हिन्दी अर्थ को प्रधानता दी गई है। पद्यरचित टीका में मूल की सभी बातों का पूर्णतया समावेश भी नहीं हो सकता यह भी सुविज्ञात तथ्य है।

इस भाग में कुल ८४ रमैनियाँ हैं और यह व्याख्या किसी आचार्य के भाष्य का अनुसरण करती है, जिसमें प्रास्ताविक श्लोकों के अनन्तर अनुबन्ध-चतुष्टय पूर्वक उपर्युक्त शैली अपनाई गई है। भाषा सरल और सुबोध है। इस में विराम तथा अन्य चिह्नों का और पैराग्राफ का उपयोग मेरा ही है, क्योंकि जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, हस्त-लिखित पोथी में इनका सर्वथा अभाव ही है।

रचना शैली

रमैनियों की रचना दोहों और चौपाइयों में की गई पाई जाती है, जो अपभ्रंश भाषा अथवा साहित्य की देन है, यद्यपि मौलिक रूप से उसमें कुछ भिन्नता अवश्य है। चौपाई का प्रयोग गोरखनाथ ने भी किया है। हिन्दी साहित्य में इस छन्द का प्रयोग रासो ग्रन्थों में भी पाया जाता है। कबीर ने यही शैली अपनी रमैनियों में अपनाई, यद्यपि दोहों की मात्रायें विशेष कर उत्तरार्ध में, अकारण बढ़ा दी गई हैं, जैसे ४५ और ५३ के अन्त के दोहों में। इन उदाहरणों में कहीं-कहीं दोहा छन्द का विचित्र रूप भी हो गया है,[4] जिसका कारण कदाचित् गायन की सुविधा भी हो सकता है। इन दोहों का प्रारम्भ भी चौपाई सरीखा है। कुछ रमैनियों के अन्त में दोहे का अभाव है। ये हैं संख्या : २८, ३२, ४२, ६२, ७० और ७९-८०।

---

४. यह कदाचित् 'साखी' है, जिसका रूप दोहे से मिलता जुलता है, पर कोई इसे पृथक् छन्द मानते हैं। देखिए—राजनाथ शर्मा, कबीर (आगरा), पृ० १५५-५६

विवरणः

रमैनी में चौपाइयों की पंक्तियाँ दो से बारह तक पाई जाती हैं। उनका विस्तृत (क्रमांक) विवरण इस प्रकार है:—

२ पंक्ति वाली रमैनियाँ—१५

३ पंक्ति वाली रमैनियाँ—३३, ४४, ५४, ५७, ५९, ६०, ७५, ७८

४ पंक्ति वाली रमैनियाँ—१८, १९, २५, २८, ३२, ३४, ३७-३९, ४१, ४६-४७, ५०-५२, ५६, ६१, ६३, ६६, ७२, ७६, ७९-८०

५ पंक्ति वाली रमैनियाँ—२, ४, ६-७, ९, २०, २३, २४, २९, ३५, ४०, ४३, ४८, ५३, ५८, ६४, ६७, ६८, ७०, ८१, ८४

६ पंक्ति वाली रमैनियाँ—३, ८, १०, १२, १६, २१, ३०, ३६, ४२, ४५, ६२, ७१, ७३

७ पंक्ति वाली रमैनियाँ—१७, २२, २७, ३१, ४९, ५५, ८३

८ पंक्ति वाली रमैनियाँ—२६, ६९

९ पंक्ति वाली रमैनियाँ—७४, ७७, ८२

१० पंक्ति वाली रमैनियाँ—५, ११, ६५

११ पंक्ति वाली रमैनियाँ—१३

१२ पंक्ति वाली रमैनियाँ—१, १४

पंक्तियों के अनुसार रमैनियों की कुल संख्या:—

पंक्ति	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
रमैनी	१	८	२३	२१	१३	७	२	३	३	१	२

कुल संख्या—८४

मूल रमैनियों की संख्या का मत-भेद

कबीरदास की रमैनियों की मूल संख्या के बारे में विद्वानों में मतभेद है और उनके सम्पूर्ण बीजक को प्रमाणित मानने में सन्देह व्यक्त किया है। कबीर मर्मज्ञ और विख्यात शब्दशास्त्रज्ञ डॉ० उदय नारायण तिवारी ने अपना तर्क प्रस्तुत किया है कि इस सन्त कवि का जन्म वाराणसी में हुआ था, जो भोजपुरी क्षेत्र के अन्तर्गत है। इस तथ्य को आधार मानकर तिवारी जी का मत है कि जो रमैनियाँ शुद्ध भोजपुरी भाषा में मिलती हैं, वे ही कबीर द्वारा विरचित हैं और

अन्य रमैनियाँ केवल प्रक्षिप्त हैं, जो बाद के किसी अन्य कवि की रचना हैं।[५] इसके विपरीत डॉ० पारसनाथ तिवारी ने इस विषय पर अपने शोध में एक अन्य ही मार्ग अपनाया है। रमैनी-साहित्य में शब्द विकृतियों को आधार मान कर उन्होंने प्रतिपादित किया है कि केवल बीस रमैनियाँ कबीर जी द्वारा रची गई थीं।[६] इस प्रकार के विभिन्न मतों का विचार करते समय हमें यह भी न भूलना चाहिए कि कबीर-वाणियाँ धार्मिक मेलों, तीर्थों और अन्य स्थानों पर विचरते सन्त-मतावलम्बियों द्वारा गाई जाती थीं और वे दोहराई भी जाती रहीं। इस प्रकार सुदीर्घ काल तक ये कृतियाँ लोक-कण्ठों में निवास करती रहीं। इनका एकत्र संकलन कुछ समय व्यतीत होने के पश्चात् ही हुआ। अतः प्रदेश, स्थान तथा समवेत जन-समूह का विचार करते हुए इन में अनेक प्रकार की विकृतियाँ हो जाना स्वाभाविक ही है। यदि यह मान लिया जाय कि कबीरदास जी की रचना उनके निधन के लगभग पचास वर्ष बाद वर्णांकित की गई थी तब तो ऊपर बतलाए मत की पुष्टि होती ही है। इसी बात को दृष्टि में रखकर आचार्य क्षितिमोहन सेन ने अपने "कबीर के पद" नामक ग्रन्थ का सम्पादन करते समय उन पदों का संकलन भक्तों के मुख से सुन कर किया था। इन्हीं पदों को श्री सेन ने अधिक प्रामाणिक माना है।[८] श्री सेन की इसी धारणा को तर्क-संगत मानकर यह भी स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है, कि इस सन्त कवि के ही शिष्य बोधानन्द स्वामी द्वारा अपनी व्याख्या में सम्मिलित की हुई रमैनियों की संख्या और क्रम-उपयुक्त ही हैं। ग्वालियर में प्राप्त हमारी इस हस्तलिखित पोथी की अशुद्धियों और विकृतियों की ओर संकेत ऊपर किया ही जा चुका है।

कबीर के नाम की व्याख्या

बोधानन्द की व्याख्या की विशेषताएँ इस ग्रन्थ में अन्यत्र प्रदर्शित की गई हैं, किन्तु यहाँ केवल एक विशेषता की ओर संकेत है—वह है कबीर नाम का विश्लेषण।

१. कु-आधार; इरा-वाणी,=कविर (कबीर=कबीर)

अथवा

कू-ईरट् प्रत्यय=कबीर

(मंगलाचरण, श्लोक ३, और रमैनी १ की व्याख्या)

---

५. टिप्पणी १ में उल्लिखित ग्रन्थ, पृ० ५६३।

६. पारसनाथ तिवारी, कबीर-ग्रन्थावलि (प्रयाग), १९६१, पृ० ११७-१२९.

७. देखिए ऊपर टिप्पणी संख्या ५।

८. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ०

२. क=वेद और कैवल्योपनिषद्, बो=विज्ञान, र=वह्नि-बीज=कबीर

कबीर शब्द के व्यापक अर्थः—(रमैनी की संख्या के साथ)। रमैनी-संख्या कोष्ठक में दी हैः--

वेद (६), वेद और घोर (१०), ज्ञानी (१४) वेद और गुरु (२०), वेद (२५, ५२), कर्मकुशल (२८), वसिष्ठ आदि महर्षि (५४), साधु (५६, ६२, ७८), ब्रह्म (१, ५७), श्री कृष्ण (५८), शास्त्र (८०)। (१) कु=आधार; इरा=वाणी= कबीर।

२

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और जीवन–परिचय

सन्त कबीर के जीवन तथा धार्मिक विचारों के सम्बन्ध में अनेक तथ्य अद्यावधि विवादग्रस्त बने हैं, किन्तु इन विवादों की उलझन में न पड़ते हुए, यहाँ हमारा प्रमुख उद्देश्य केवल ज्ञात तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में नवीन दृष्टिकोण से धार्मिक पृष्ठभूमि का परिचय देने तक ही सीमित है।

हिन्दू-समाज के धार्मिक विचारों में विविधता प्रारम्भ से ही देखी जाती है। ईसवी आठवीं सदी के आसपास एक ओर कुमारिल आदि आचार्यों के प्रयत्न के कारण देश में कर्म-मार्ग का जोर था और दूसरी ओर बौद्ध धर्म के प्राबल्य के फलस्वरूप धार्मिक आचार-विचारों के प्रति विद्रोह की भावना जागृत हो रही थी। ईसा की आठवीं सदी के अन्तिम चरण में श्री शंकराचार्य ने धार्मिक द्रुम के उलझे हुए गुल्मों की छानबीन तथा साथ ही बौद्धधर्म का उन्मूलन करके अद्वैतवाद स्थापित किया। माया का आश्रय लेकर उन्होंने संसार को मिथ्या एवं ईश्वर का विकल्प बतलाया और अपना मत स्थापित किया कि सत्य ब्रह्म में जीव तथा संसार का भ्रम रज्जु में सर्प-भ्रम के समान ही है और इस सबका कारण माया है। मायोपाधि से ही जीव में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म होते हैं। सब कुछ ब्रह्म ही है, इस सिद्धान्त का अनुसरण कर, वे उपासना को महत्त्व नहीं देते, यद्यपि गोविन्द, विष्णु, शिव आदि की स्तुति के निर्माण करते समय उनका हृदय भक्ति से तरंगित होता रहता है।

भगवान् शंकर के पश्चात् उनकी शिष्य-परम्परा ने उनके अद्वैतवाद का भरसक प्रचार भी किया, किन्तु इस नीरस विचारधारा से जन-समुदाय प्रभावित नहीं हो सका। निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान शुष्क होने के कारण इससे साधारणजन के चित्त को शान्ति मिलना असम्भव ही था। फिर भी यह विकट परिस्थिति कुछ समय चलती रहने के बाद, स्मृति और पुराणों में प्रतिपादित मत की ओर साधारण जन का झुकाव हो जाना स्वाभाविक ही था और इसी कारण व्रत, दान, तीर्थ, मूर्तिपूजा, वर्णाश्रम-धर्म आदि का प्रचार होने लगा। धर्म-शास्त्रों और टीकाओं के समय में भी यही स्थिति थी। इसके फलस्वरूप नई समस्यायें सामने आने लगीं।

ईसा की ग्यारहवीं सदी के प्रथम चरण में दक्षिण में विष्णु-भक्ति की प्रबलता हुई। इस मत के सव-प्रथम प्रचारक यामुनाचार्य हैं। इन्हीं के शिष्य आचार्य रामानुज ने (१०१६-१७ ई० से ११३७ ई० तक) शंकराचार्य के मायावाद पर प्रहार करके कर्ममार्ग का भी उच्छेद किया और भक्ति (उपासना और ध्यान) को प्रमुख प्रतिपादित किया। इनके अनुसार कर्म केवल चित्तशुद्धि का ही कारण है और भक्ति का ही महत्त्व है। रामानुज का यह मत विशिष्टाद्वैत नाम से अभिहित है।

ब्रह्म अद्वितीय ही है। यह मान लेने पर भी, रामानुज के मत के अनुसार वह सत्त्वप्रधान, निःसीम एवं शुद्धगुणोपेत है, अतः उसकी उपासना तथा भक्ति सम्भव है।

रामानुज के थोड़े समय बाद उसी शताब्दी में निम्बार्क नाम के एक और आचार्य का प्रादुर्भाव हुआ। इन्होंने भी रामानुज की ही भाँति शंकराचार्य के मायावाद का खण्डन करके भक्तिमार्ग पर जोर दिया और यह भी प्रदर्शित किया कि भक्ति का मूल अर्थ प्रेम ही है। इनके मत के अनुसार परमात्मा और संसार ये दोनों अभिन्न होने पर भी अन्य दृष्टिकोण से भिन्न हैं। उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया कि ब्रह्म नर-रूप ईश्वर या विष्णु ही है, जिसको प्रार्थना हम कर सकते हैं और जो हमारी कठिनाई में दया भी करता है। इनका मत द्वैताद्वैत के नाम से जाना जाता है।

इनके पश्चात् ईसा की तेरहवीं सदी में मध्व नाम के एक और आचार्य हुए जिनका दूसरा नाम आनन्दतीर्थ था। इनके मत के अनुसार ईश्वर जीवात्मा और निर्जीव संसार से पृथक् ही है और वही उपास्य भी है। वे विष्णु-पूजा को सर्व-प्रधान मानते थे।

दर्शन की इन विविध शाखाओं के साथ ही अन्य धार्मिक विचार-धाराएँ भी प्रचलित थीं। कर्मकाण्ड (मीमांसा) सांख्य-योग और न्याय-वैशेषिक का विद्वानों में अत्यधिक प्रचार था। पर जन-सामान्य की स्थिति पृथक् ही थी। पौराणिक मत के प्राबल्य के कारण कोई व्रतोपवास से ही मोक्ष मानता था, कोई तीर्थाटन में ही मग्न था, और कोई दान-पुण्य और हवन आदि में अपने कर्तव्य की इतिश्री समझता था। शाक्त मत के प्रचार के कारण पंच-मकार का सेवन भी जोर पकड़ रहा था, और तंत्र-मंत्रादि ने भी धार्मिक भावनाओं को कुण्ठित कर दिया था। ऋषि, मुनि, कनफटे योगी, हठयोगी, ब्राह्मण, जंगम, सन्यासी, नागा बाबा, निर्वाणी, निरंजनी आदि अनेक पन्थ भी प्रचलित थे,

जिससे देश का धार्मिक वातावरण क्षुब्ध हो उठा था। पर इन सबसे बड़ा प्रघात विरोधी इस्लाम धर्म से पहुंचा जिसने हिन्दू धर्म की जड़ें हिला दीं। इस्लाम सम्प्रदाय का देश में आगमन हो चुका था। मुहम्मद गज़नवी (लगभग १००० ई०) के समय से देश पर आततायियों के निरन्तर हमले होते रहे। देव-प्रतिमाओं और देवालयों का विध्वंस हुआ और बहुसंख्या में हिन्दुओं को धर्म परिवर्तन के लिए विवश भी किया गया। सूफी समाज के प्रयत्नों से कुछ राहत अवश्य मिली किन्तु वह स्वल्पकालीन ही थी। इस विचित्र परिस्थिति ने धर्म-सरिता के स्वच्छ और अविच्छिन्न प्रवाह में रोड़े अटका दिए। साथ ही, एक देवत्व-वाद का भी इस समय प्रचार बढ़ गया था, वह देव था शिव, विष्णु या शक्ति। कर्मकाण्ड का जोर था ही, यद्यपि भारतीय संस्कृति ने अपनी परम्परा के अनुसार इस्लाम के कबीलों को भी अपनाने का पूरा प्रयत्न किया, जैसा कि नाथ-सम्प्रदाय से हम जानते हैं। पर यह समाज इस्लाम को आत्मसात् न कर सका।

चौदहवीं सदी के मध्यकाल में ऐसी विकट परिस्थितियों में रामानन्द नाम के एक महान् सन्त और आचार्य का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने इस क्षुब्ध धार्मिक वातावरण को स्थिरता प्रदान करने का प्रयत्न किया और कुछ अंश तक उसमें सफलता भी प्राप्त की। रामानन्द को युग-प्रवर्तक कहा जाता है। ये ही आचार्य हमारे कबीरदास के गुरु थे। अतः इनका परिचय कुछ विस्तार में देना अभीष्ट है।

वाराणसी में सन् १३५६ में जन्मे रामानन्द ने राघवानन्द नामक गुरु के चरणों में वेदान्त के रामानुज सम्प्रदाय का अध्ययन किया और कुछ ग्रन्थ भी रचे, जिनमें ब्रह्मसूत्र पर आनन्दभाष्य, श्रीमद्भगवद्गीता-भाष्य, श्रीरामार्चन-पद्धति आदि प्रमुख हैं। उनका सम्प्रदाय श्री-सम्प्रदाय के नाम से अभिहित है। इस मत में राम परात्पर-ब्रह्म, जानकी परा शक्ति और लक्ष्मण भगवान् की आज्ञा में रहने वाले जीव है। चित्, अचित् और ब्रह्म, अर्थात् क्रमशः जीवतत्त्व मायातत्त्व, और सर्वव्यापक तथा सर्वनियन्ता-इन तीनों का चिरकाल से सम्बन्ध है। रामानन्द के अनुयायी कर्म के साथ उपासना भी जोड़ देते हैं। इस मत में सीता परात्पर शक्ति मानी गई है, जिसका इसी प्रकार का वर्णन गोस्वामी तुलसीदासजी ने इस प्रकार किया है—

'उभय बीच सिय सोहति कैसी। ब्रह्म जीव बिच माया जैसी॥'

रामानन्द-सम्प्रदाय की परम्परा में उपदेशों की प्रथा दोनों प्रकार की है—गृहस्थाश्रम के लिए और विरक्ताश्रम के लिए।

काशी में विश्वनाथ मन्दिर के पास पंचगंगा पर रामानन्द पीठ था, यह जनश्रुति प्रसिद्ध है। मुस्लिम ग्राक्रमणों के कारण इस पीठ का विध्वंस हो गया। फिर भी काशी राम-भक्तों की पुरी है, यही उद्दिष्ट कर तुलसीदास जी ने लिखा है—

'जासु नाम बल शंकर कासी। देत सबहिं सम गति ग्रविनासी॥'

रामानन्द ने रामानुज सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को ही ग्रपनाया, किन्तु उन्हें भिन्न प्रवाह में मोड़ दिया। उस समय तक प्रचलित कृष्ण ग्रौर राधा के स्थान पर उन्होंने राम ग्रौर सीता की भक्ति का मार्ग प्रदर्शित किया। उनका मत था कि 'विश्' धातु का व्यापक ग्रर्थ राम से ही सम्बद्ध है। दूसरा सुधार जो रामानन्द की देन कही जाती है, वह है शुद्धीकरण, जिसमें निम्न जाति के व्यक्तियों के उद्धार की ग्रोर विशेष ध्यान दिया गया। उनका मत था कि प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह किसी भी जाति का हो, भगवान् की भक्ति का ग्रधिकारी है। ग्रपनी इसी मान्यता के ग्रनुसार, रामानन्द ने ग्रपने सम्प्रदाय में निम्न जाति के व्यक्तियों को भी सम्मिलित किया। उनके बारह प्रधान शिष्यों में कबीर, सेना, धन्ना ग्रौर रविदास थे, जो जाति से क्रमशः जुलाहा, नाई, जाट ग्रौर मोची थे।

रामानन्द ने मूर्तिपूजा के विरुद्ध भी ग्रावाज उठाई ग्रौर गुरु को प्रधान मानकर उन्हें ईश्वर का ग्रादरभाव समर्पण करने पर बल दिया। इनके ग्रनुवर्ती सभी सन्त कवियों ने गुरु कृपा को प्राधान्य देने के बारे में लिखा है।

रामानन्द के समय से पूर्व धार्मिक विचार विशेषतः संस्कृत भाषा में ही लिखे जाते थे। उन विचारों को सर्व-जन-सुलभ करने की दृष्टि से इन्होंने हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषा को ग्रधिक उपयुक्त माना। वस्तुतः हिन्दी भाषा के क्षेत्र में रामानन्द का यह सर्वमहान् योगदान है। इस सन्त का निर्वाण सन् १४६७ ई० में हुग्रा।

ऊपर कहा ही है कि इन्हीं रामानन्द के प्रधान बारह शिष्यों में कबीर भी थे। सन्त कवि कबीर को जिन जिन विविध सम्प्रदायों ने प्रभावित किया, उनका यहाँ संक्षिप्त परिचय देना भी ग्रभीष्ट है। उस समय महाराष्ट्र में धर्म की त्रिपथगा प्रवाहित हो रही थी। ईसा की दसवीं शताब्दी में मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा प्रवर्तित नाथ सम्प्रदाय का उदय हुग्रा, जिसके प्रमुख व्याख्याकार मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरक्षनाथ ग्रौर उनके शिष्य गहिनीनाथ माने जाते हैं। इन्हीं गहिनीनाथ के शिष्य ज्ञानदेव की विख्यात कृति ज्ञानेश्वरी ने समस्त महाराष्ट्र ग्रौर तत्सलग्न प्रान्तों में भक्ति-रस को प्रवाहित किया। उनका मत था कि भक्ति ही मोक्ष-प्राप्ति का ग्रमोघ साधन है।

ज्ञानदेव के समकालीन महान् व्याख्याकार और प्रचारक सन्त कवि नामदेव मध्ययुगीन रहस्यवाद के प्रधान स्तम्भ माने जाते हैं। इनके अनुयायी भागवत सम्प्रदाय को मानते थे और पण्ढरपुर में स्थित विठोबा या विट्ठल की अर्चना करते थे। इनका विश्वास था कि व्यक्तिगत आत्मा का सर्वमहान् आत्मा के साथ योग ही मोक्ष है और भक्ति-संगीत ही उसका प्रमुख साधन है। नामदेव के गीतों ने महाराष्ट्र में काफी ख्याति पाई।

दक्षिण में ही बारकरी नाम का एक और सम्प्रदाय था जिसका मुख्य मंत्र हरिकीर्तन था और उसके भक्त धार्मिक ग्रन्थों के पठन पर जोर देते थे।

भागवत धर्म के इस प्रचार न परस्पर विरोधी सम्प्रदायों में एकता का संचार किया। इन सब का यही मत था कि व्यक्तिगत चैतन्य का समष्टिगत चैतन्य से एक रूप हो जाना ही मुक्ति है। इन सभी मतों में सब जातियां समान मानी जाती थीं, जिनमें अछूत का भी समावेश होता था।

कुछ समय बाद ही, तेरहवीं सदी में महानुभाव नामक सम्प्रदाय का उदय हुआ जिसके प्रवर्तक चक्रधर (१२६३ ई०) थे। इस सम्प्रदाय की आचार-संहिता सबसे पृथक् थो। मूर्तिपूजा में अविश्वास करने वाले चक्रधर के मतानुयायी दत्तात्रेय और द्वारका के कृष्ण को भी देव मानते थे। चक्रधर के शिष्य नामदेव ने इस सम्प्रदाय को व्यवस्थित रूप दिया।

उपयु क्त सभी सम्प्रदाय वैष्णव थे और इनके अनुयायी गीत तथा भजनों के द्वारा ईश्वर-भक्ति की शिक्षा देते रहते थे। साथ ही गुरु को पथ-प्रदर्शक तथा उद्धारक मानते थे।

सूफी समुदाय का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इसके अनुयायी मुस्लिम थे, किन्तु इनका कोई खास सम्प्रदाय नहीं था। और न किसी खास मत में ये विश्वास ही करते थे। ये किसी शास्त्रोक्त पद्धति या धर्माचार में भी विश्वास नहीं करते थे, अपने स्वतन्त्र विचारों और तपश्चर्या से दिव्य दर्शन प्राप्त करना ही इनका उद्देश्य था। ये भी मूर्ति-पूजा के विरुद्ध थे और मानते थे कि जगत् को रचने वाला एक ही है, चाहे उसे राम, कृष्ण, शिव या अल्लाह किसी भी नाम से पुकारा जाय। भक्ति या उसके पर्याय प्रेम, उपासना आदि को ये लोग संसार से छुटकारा पाने का प्रबल साधन मानते थे। इनके मत के अनुसार ईश्वर का स्थान मन्दिर नहीं, किन्तु भक्त का शुद्ध हृदय ही ही। उनकी यह भी मान्यता थी कि गुरु-कृपा के बिना मुक्ति असम्भव है। इस मत के

ग्रनुयायी पवित्र एवं ग्रनुशासित जीवन व्यतीत करते थे ग्रौर इसी को वे ईश्वर-ज्ञान का साधन भी मानते थे। उनकी यह भी मान्यता थी कि शरीर में व्याप्त चिदात्मा किसी सर्वव्यापी चिदात्मा का ग्रंश है। उनकी धारणा थी कि मानव-सेवा ही ईश्वर-सेवा है ग्रौर गायन के द्वारा मन की एकाग्रता से ही उसकी प्राप्ति होती है।

ऊपर बतलाए हुए सभी मत-मतान्तरों का प्रभाव रामानन्द ग्रौर उनके शिष्य कबीर पर पड़ना स्वाभाविक ही था।

सुदूर बंगाल में भी प्रायः इसी प्रकार की स्थिति थी; यद्यपि उस क्षेत्र में संस्कृत भाषा का काफी ग्रधिक प्रचार था। १२-१३वीं सदी में कवि जयदेव द्वारा रचित गीतगोविन्द ने सर्वत्र प्रसिद्धि प्राप्त की।

जयदेव के बाद किन्तु कबीर के ही समकालीन चैतन्य, जिनका पूरा नाम कृष्ण चैतन्य (१४८६-१५३३ ई०) था, मध्यकाल के महान् सन्त माने जाते हैं। गया में केशव भारती से कृष्ण-मंत्र लेकर इन्होंने १५१० ई० में संन्यास लिया ग्रौर तब से ये स्थायी रूप से पुरी में निवास करने लगे। इन्होंने समस्त भारत में प्रवास किया ग्रौर वृन्दावन के भग्न मन्दिरों का जीर्णोद्धार भी किया। ज्ञान को कम महत्त्वपूर्ण मानने वाले इन सन्त का निष्कपट ग्रौर उत्कट भक्ति में पूर्ण विश्वास था। इसी को वे मुक्ति-मार्ग मानते थे। राधाकृष्ण की प्रेमलीला का गायन करते समय ये उन्मादित हो जाते थे। जयदेव के प्रेमोन्माद ग्रौर चण्डीदास के सुरीले गायन से भी ये प्रभावित थे। विश्वबन्धुत्व की भावना रखने वाले इस सन्त के मत में, जाति-पाँति का भेद मानने पर भी, भक्ति-मार्ग में भेद-भाव नहीं था। इनके उदार विचारों ने ब्राह्मण, चाण्डाल, यवन ग्रादि का भेद मिटा दिया था ग्रौर इसी से इनकी काफी प्रसिद्धि हुई।

वस्तुतः ग्राचार्य रामानुज के मत से ग्रनेक ग्राचार्य ग्रौर सन्त प्रभावित हुए, यद्यपि इनमें से प्रत्येक के विचारों में कुछ भिन्नता होते हुए भी, भक्ति, प्रेम, उपासना-चाहे जिस नाम से उसे कहें—से सभी ग्राकृष्ट हो गये, जिनमें मध्व, बल्लभ, रामानन्द, कबीर, नानक ग्रौर उनके परवर्ती सन्त हैं। इन सभी सन्तों ने प्रचलित देशी भाषा में ही प्रचार किया, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं। कबीर जी ने भी कहा ही है कि 'संस्कृत एक गहरा कुग्रां है ग्रौर प्रादेशिक भाषा एक बहती हुई नदी है'।

ऊपर बतलाए हुए कारणों से ईसा की चौदहवीं सदी में विशेषकर उसके उत्तरार्ध में, देश के विविध क्षेत्रों में भक्ति-भावना का प्राबल्य व्याप्त हो गया,

यद्यपि उसके साथ ही, एक ओर विभिन्न दार्शनिक मत और उपासना तथा दूसरी ओर जाति-पाँति, छुआछूत, वर्णाश्रम धर्म आदि को बढ़ावा देने वाले कर्म-मार्ग की विभिन्न धारायें प्रवाहित हो रही थीं। विदेशियों को आत्मसात् करने वाली भारतीय जनता इस्लाम सम्प्रदाय के विचारों से तालमेल करने में असमर्थ रही। भारतीय नरेशों के पारस्परिक विद्वेष और विजोगीषा के कारण विदेशी शासकों के अत्याचार असह्य होने लगे थे। इसी सदी के अन्तिम वर्षों में (सन् १३९८ में विध्वंसक तैमूर के सर्वाधिक भीषण आक्रमण ने देश और समाज की रीढ़ ही तोड़ दी। सर्वत्र 'त्राहि त्राहि' की पुकार मचने लगी थी। कोई सुनने वाला न था। उस समय भारतीय जनता के बीच सन्त कबीर का आविर्भाव हुआ।

जन्म-मरण—

संस्कृत और हिन्दी के कुछ प्राचीन कवियों की ही भाँति सन्त कबीर के जन्म-मरण की तिथि, उत्पत्ति-स्थान, तथा जीवन-वृत्त के विषय में विशेषज्ञों में आज भी मतभेद है। उनकी जन्मतिथि के बारे में दो प्रबल मत हैं। परशुराम चतुर्वेदी ने अपने 'उत्तर भारत की सन्त-परम्परा' नामक ग्रन्थ में कबीर के नाम से प्रचलित एक दोहा उद्धृत किया है—

संवत् बारह सो पाँच में, ज्ञानी कियो विचार।
काशी में प्रकट भयो, शब्द कहो टकसार॥

इस पद्य के अनुसार कबीर का जन्म १२०५ में हुआ था। किन्तु उनके दो ज्ञात तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में यह तिथि असंगत हो जाती है। वे तथ्य ये हैं—(१) सिकन्दर लोदी का काशी आगमन और कबीर पर अत्याचार तथा (२) कबीर का स्वामी रामानन्द का शिष्य होना। सिकन्दर लोदी का शासन काल १४८९ से १५१७ ई० तक था और रामानन्द सन् १३५६ ई० में जन्मे थे, जैसा कि हम ऊपर देख ही चुके हैं।

कबीर के जन्म के सम्बन्ध में कबीर-पन्थियों में एक दूसरा दोहा प्रचलित है—

चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार एक ठाठ भरा।
जेठ सुदी बरसायत को, पूरणमासी प्रकट भए॥

यह दोहा कबीर जी के प्रधान शिष्य धर्मदासजी का लिखा बतलाया जाता है। इसके अनुसार उनका जन्म (संवत्) १४५५ के ज्येष्ठ सुदी पूर्णिमा सोमवार को हुआ था। बाबू श्यामसुन्दरदास ने 'साल गए' के आधार पर उसे संवत् १४५६ माना है, जो गणित के अनुसार ठीक भी बैठता है।

इण्डियन क्रॉनोलॉजी से का हुई अपनी स्वयं की गणना के अनुसार मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचता हूँ—

(१) चैत्रादि वि० सं० १४५५ गताब्द पूर्णिमा—शुक्रवार ३१ मई १३९८ ई०।

(२) कार्तिकादि वि० सं० १४५५ गताब्द पूर्णिमा—मंगलवार २० मई १३९८।

इन दोनों में दूसरा विकल्प ग्राह्य हो सकता है। उस दिन पूर्णिमा अवश्य थी, जिसका प्रारम्भ, कालगणना के अनुसार १९ मई को दिन के बारह बजकर पैंतालीस मिनट पर हुआ था। उस दिन सोमवार भी था। अतः कबीरजी की जन्म-तिथि १९ मई १३९९ के दिन दोपहर के लगभग एक बजे से उसके दूसरे दिन सबेरे ६ बजे के बीच लेना उपयुक्त प्रतीत होता है। इस प्रकार चैत्रादि नहीं किन्तु कार्तिकादि गताब्द १३५५ वि० की गणना के अनुसार ही यह प्रमाण उपर्युक्त होता है। कार्तिकादि वर्ष केवल दक्षिण में ही नहीं, उत्तर भारत में भी उससे अधिक प्रचलित था। यह प्राचीन अभिलेखों में निर्दिष्ट तिथियों की गणना के आधार पर गणितज्ञ प्रो० कीलहार्न ने सिद्ध किया है।[1]

सन्त कबीर की निधन-तिथि के सम्बन्ध में भी मत-भेद है। कबीर-पन्थ में प्रचलित मतों के अनुसार उनकी निधन-तिथियाँ चार आती हैं—संवत् १५०५, १५४९, १५६९ और १५७५। किन्तु समस्त ज्ञात तथ्यों को ध्यान में रखते हुए विद्वानों ने सं० १५७५ को भी कबीर का निधन-काल स्वीकार किया है। इसके अनुसार कबीरजी ने १२० वर्ष की आयु पाई थी, जो असम्भव नहीं है। यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कबीर जी लम्बी आयु तक जीवित रहे।

इसी प्रकार, इनके जन्म-स्थल, माता-पिता और जीवन वृत्त के विषय में भी शोधकर्ता एक-मत नहीं हैं। यह हमारा दुर्भाग्य ही है। मतान्तर होने पर भी इनका जन्म-स्थल काशी माना गया है।[2] इनकी जाति जुलाहा थी। एक मत के अनुसार ये मुसलमान जुलाहा नीरू और नीमा के औरस पुत्र थे। इनके जन्म के सम्बन्ध में एक दन्त-कथा भी प्रचलित है कि इनका जन्म एक विधवा ब्राह्मणी से

---

१. इंडियन एंटिक्वेरी, भाग १९-२०। पीताम्बरदास बड़थ्वाल ने कबीर का जन्म वि० सं० १४२७ के आस-पास और वेस्टकार ने वि० सं० १४९७ माना है। देखिए—कबीर (राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली), पृ० २६, और कबीर (सीतापुर रोड, लखनऊ) पृष्ठ ४।

२. अन्य मतों के लिए देखिए, राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी-कबीर, पृ० १०-१२।

हुआ था, जिसने जन्म के बाद ही सामाजिक कौलीन्य के कारण इनका त्याग कर दिया था और नीरू और नीमा ने इनका पालन-पोषण किया था।

कबीर रामानन्द के शिष्य थे यह ऊपर कहा जा चुका है। इस सम्बन्ध में भी जो किम्वदन्ती है, उसे यहाँ देना हम उपयुक्त समझते हैं, वह यह कि जाति से मुसलमान होने के कारण कबीर जी को जब रामानन्द ने अपना शिष्य बनाना अस्वीकार कर दिया, तब उन्होंने एक युक्ति सोची। रामानन्द प्रतिदिन प्रातः गंगा-स्नान के लिए जाया करते थे। एक दिन उषःकाल में कुछ कुछ अंधेरे में जाते समय अचानक उनका पाँव कबीर के शरीर पर पड़ गया जो उस समय वहां सीढ़ियों पर लेटे हुए थे। रामानन्द के मुंह से ज्योंही 'राम राम' निकला, कबीर जी ने उसे ग्रहण कर लिया और तब से वे यह मन्त्र जपने लगे।

जीवन भर पिता का धन्धा करते रहने पर भी कबीर जी का जीवन सन्मार्ग में प्रवृत्त हो गया था। पवित्र जीवन व्यतीत करने वाले इस सन्त के अध्ययन के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं, यद्यपि, जैसा कि इनकी रचना से ज्ञात है, ये हिन्दू-धर्म और दर्शन के साधारण सिद्धान्तों से भलीभाँति परिचित थे। यह ज्ञान उन्हें साधु-सन्तों के सहवास से उपलब्ध हुआ था। इनके साक्षर या निरक्षर होने के बारे में भी सन्देह व्यक्त किया जाता है।

अपने गुरु रामानन्द का ही सिद्धान्त सन्त कबीर ने आगे बढ़ाया। उनका मत था कि भक्ति के बिना ज्ञान शुष्क ही है। वे भजन को महत्त्व देते थे। स्वयं को वे अल्ला और राम का पुत्र मानते थे और कहते रहते थे कि हिन्दू और मुसलमान का भेद कृत्रिम ही है। यही अपनी रचनाओं में उन्होंनें बार बार प्रदर्शित किया है।

सन्त कबीर के सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण यहाँ देना उचित होगा, यद्यपि व्याख्याकार बोधानन्द के परिप्रेक्ष्य में उनका विस्तार आगे किया जाएगा। कबीर जी का मत था कि प्राणिमात्र के शरीर के भीतर का चैतन्य शुद्ध-स्वरूप परब्रह्म-रूप चैतन्य ही है और उसी को हम राम के नाम से पुकारते हैं। मनुष्य का अपने शरीर को भूलकर और इसका मोह छोड़कर उस शुद्ध चैतन्य में समा जाना ही मोक्ष है। यह सारा संसार माया और वासना के कारण ही है और इनसे मुक्ति पाना ही परम पुरुषार्थ है।

हिन्दू और मुसलमान दोनों मूलतः एक ही हैं—इस अपने मत के प्रचार के कारण कबीर के शिष्य और अनुयायी इन दोनों फिरकों में पाए जाते हैं। देश में अनेक स्थलों पर कबीर-पन्थ की गादियाँ हैं।

कबीर के राम निर्गुण ब्रह्म हैं। वही आत्मतत्त्व, आत्मस्वरूप, भगवान्, चिदानन्द, इस संसार की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कर्ता है। जाति-पाँति और वर्णाश्रम-धर्म केवल कृत्रिम बखेड़ा है, जिसकी कल्पना बाद में ही हुई है। शंकराचार्य की ही भाँति कबीरजी ने कर्मकाण्ड पर भारी प्रहार किया है और यह भी कहा है कि उपनिषद् आदि ग्रन्थ पढ़ने पर भी लोग ज्ञान-शून्य रहते ही हैं। इसी कारण उन्होंने शंकराचार्य के ज्ञान-तत्त्व के साथ आचार्य रामानुज का भक्ति-तत्त्व भी जोड़ दिया।

इस मत के प्रतिपादन के लिए सन्त कबीर ने अपने पूर्वसूरियों के उस मत का सहारा लिया, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, यद्यपि यह सब उन्होंने स्वयं की अनुभूति से ही किया है। वस्तुतः, जैसा कि रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, 'भारतीय ब्रह्मवाद के साथ, सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद का मेल करके (सन्त कबीर ने) अपना मत खड़ा किया था।'

३

बोधानन्द की व्याख्या के परिप्रेक्ष्य में रमैनियों में प्रतिपादित कबीर-मत-सार

रमैनी-संग्रह के सभी पद भजनों के रूप में गेय रचना में समाविष्ट होते हैं और वे दोहे-चौपाई के रूप में कबीर-पन्थियों के लिए नित्य पाठ की वस्तु बन गए हैं। स्थल दृष्टि से इस संग्रह की विचारधारा का वर्गीकरण नीचे बतलाए हुए शीर्षकों से अन्तर्गत होता है:—

(१) ब्रह्म-निरूपण और सृष्टि प्रकरण,
(२) कर्म, माया और वासना;
(३) विरुद्ध मतों का खण्डन,
(४) सदुपदेश,
(५) प्रभु-भक्ति, गुरु-माहात्म्य, शरणागति, मोक्ष आदि।

ये सभी उपभेद एक दूसरे पर आच्छादित हैं और स्पष्ट रूप से विभाजित नहीं है। इनका विस्तृत वर्णन यहां किया जाता है। प्रत्येक शीर्षक के साथ रमैनियों की संख्या कोष्ठक में दी गई है।

ब्रह्म निरूपण और सृष्टि प्रकरण:—(उपक्रम१.३ २६.३०)

व्याख्याकार ने अपने मंगलाचरण में ही ब्रह्म को अद्वितीय, शुद्ध, बुद्ध, सनातन, नित्य-मुक्त, चिदानन्द, चिद्रूप, अज और निर्विकारी प्रतिपादित किया है। वही ब्रह्म संसार का आधार और उसका यावत् विस्तार भी है। वह पिण्ड और ब्रह्माण्ड का प्रवर्तक, वेदों का प्रतिपादक और इन्द्रियों का प्रकाशक है। सद्गुरु से उसका ज्ञान संभव है।

इस सृष्टि का और माया का कारण वही ब्रह्म संसार का बीज है और उसी की प्राप्ति का एक मात्र साधन होने के कारण इस कृति का नाम बीज (बीजक) है, जिसका अर्थ है आनन्दस्वरूप, निर्विकल्प, निराभास, संसार की उत्पत्ति, स्थिति और लय करने वाला सच्चिदानन्द-स्वरूप। वेदों में भी ब्रह्म इसी प्रकार प्रतिपादित किया गया है।

वही चिदात्मा ब्रह्म, माया और अविद्या का प्रकाशक है। माया के पर्याय हैं—अजा, अविद्या, प्रकृति, ईहा, चेष्टा आदि। माया से जीव और अविद्या से ईश्वर (ऐश्वर्य-सम्पन्न देव-गन्धर्वादि) प्रकाशित होते हैं। वही इनकी कल्पना के कारण भी है। इस मायोपाधि के कारण ही कविगण इस निर्विकारी ब्रह्म में जगत्, तत्त्व और गुण का कर्तृत्व, भोक्तृत्व, जन्म, मरण आदि का आरोपण करते हैं. यद्यपि वास्तविक रूप से इस संसार का कारण माया ही है ब्रह्म नहीं। अज्ञान के ही कारण, माया का यह सारा कार्य ब्रह्म पर आरोपित किया जाता है, यह आरोपण करने वाले कवि और शास्त्रवादी सर्वज्ञ होने पर भी यथार्थ वस्तु स्थिति से अपरिचित ही रहते हैं। कारण यही कि विधाता ने अज्ञानरूपी एक दुर्ग की रचना की है, जो आवरण का काम करता है। इसी आवरण के कारण मन अज्ञान-प्रपंच में भ्रमण करता है और सत्कर्म से पितृलोक की, पुण्य से स्वर्ग की प्राप्ति तथा पाप से दुर्गति होती है, यही मानकर कर्म को ही प्रमुख समझ कर वह उसे ही प्राधान्य देता है और यही संसार में पुनरावर्तन का कारण भी है। हरि, ब्रह्मा और हर ये तीनों सत्त्व, रजस् और तमोगुणात्मक देव ही हैं और गुणात्मक देवों की उपासना से शरीरत्रयाभिमान के कारण व्यक्ति जीवत्व को प्राप्त होता है। इसका अर्थ यही है कि जाग्रत् अवस्था का भोग-व्यवहार, स्वप्नावस्था का सुख-दुःख और सुषुप्ति का व्यवहार भी अपना स्वयं का मान लेने के परिणाम स्वरूप वही चैतन्य का अंश जीव बार बार शरीर धारण करता रहता है। शुद्ध चैतन्य-स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण ही व्यक्तिगत चैतन्य नाना योनियों में भटकता रहता है।

इस चैतन्य के दो प्रकार हैं—मायोपाधि और अविद्योपाधि। इनमें पहला समष्टिरूप है, जो आधिपत्य का कारण है; दूसरा व्यष्टिरूप है, जिससे जीव की उत्पत्ति होती है। वही जीव कभी सात्त्विकी देव-योनि, कभी राजसी मानुषी योनि और कभी तामसी तिर्यग्योनि धारण करता है। अपने स्वरूप के अज्ञान के कारण वही जीव अनेक मतमतान्तरों में अभिमान भी करता है और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अंत्यज इत्यादि जातियों में तथा मतवाद, दर्शनवाद और पाखण्डवाद में भी पड़ जाता है। यही मतवाद और पाखण्डवाद नरक (अधःपतन) का कारण है।

यह सब कर्म का ही परिणाम है और वेद-विरुद्ध भी है। माना कि वेदों ने कर्ममार्ग का भी प्रतिपादन किया है, किन्तु उसका निषेध भी वेदों ने ही किया है। इस सम्बन्ध में एक बात द्रष्टव्य है। माता के पेट में न तो किसी का वेदाध्ययन ही होता है और न सुन्नत। गर्भ से बाहर पड़ने के बाद ही, मैं ब्राह्मण हूं

ग्रौर सन्ध्यावन्दन मेरा कर्तव्य है, यह बोध अपने असली स्वरूप की विस्मृतिके कारण ही होता है, और मनुष्य-देह में ममत्व के कारण व्यक्ति मृगतृष्णाप्राय अज्ञात के गर्त में गिर जाता है। इसी प्रकार सुन्नत आदि व्यवहार भी उसे परिच्युत कर देते हैं।

इस सब का कारण अविद्या ही है, जिसके मूल में स्थूल सूक्ष्म और कारण, ये तीन देह हैं। वस्तुतः इसके मूल में वही एक चैतन्य है, जो विभिन्न देहों में व्याप्त है। उसी चैतन्यरूप आत्मज्ञान के अभाव में मनुष्य इस देह को ही कर्ता और भोक्ता मान लेता है। वस्तुतः सृष्टि के प्रारम्भ में भी वही चैतन्य है, जो निमित्तभूत कर्म के ही कारण भिन्न भिन्न दिखाई देता है। वेदों में यह भी कहा ही है।

यही माया विश्व का सृजन करती है। रामगीता (अध्यात्म रामायण, उत्तर काण्ड, अध्याय ५) में भी कहा है कि शुद्ध चिदात्मा में पंचतत्त्व का अभाव ही है और वह केवल प्रकाशरूप वासना के कारण ही मूर्ख बनकर, आत्मानन्द को भूल कर कर्म में लिप्त हो जाता है। भगवद्गीता का भी यही कथन है। सार्वभौम होने या इन्द्रादि पद प्राप्ति की कामना का कारण यही वासना है। भगवद्गीता में माया की गति दुर्ज्ञेय बतलाई है,

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायां एतां तरन्ति ते॥

महाप्रलय के ज्ञाता विष्णु ही माया की गति जान सकते हैं; अन्य कोई नहीं। वेदों और श्रीमद्भागवत में यही स्पष्ट किया है। राम-नाम को जाने बिना यह सब ज्ञात नहीं हो सकता।

चित् और अन्तःकरण के संयोग से इच्छारूप नारी का अवतार हुआ। उसी के तीन पुत्र उत्पन्न हुए—सात्त्विक, राजस और तामस अहंकार। ये तीनों क्रमशः विष्णु, ब्रह्मा और महेश्वर ही हैं। इनका पिता चिदात्मा है जो सर्वतः पूर्ण है, और माता है इच्छा। इस प्रकार जीव और ईश्वर इन सबका कारण इच्छा (माया या अविद्या) ही है। अतः जीवत्वनाश के लिए ब्रह्मरूप में समा जाना यही एक उपाय है।

उपर्युक्त चैतन्य से ही जगत् का विस्तार हुआ है और उसका आधार भी वही है। उसी से पिण्ड और ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई है।

महाविष्णु की नाभि से ब्रह्मा का जन्म हुआ और श्वास से आदि-मनुष्य-सृष्टि का, जो शाश्वत है। इच्छा, क्रिया और ज्ञान की शक्ति और सत्त्वांश

विष्णु, रजोअंश ब्रह्मा तथा तमोअंश रुद्र भी उसी के श्वास से उत्पन्न हुए हैं। ये सभी अविनाशी हैं, फिर भी वाणी के द्वारा ये नाशवान् हैं ही। सुर, नर, मुनि, सभी चिद्रूप ही हैं, फिर भी वे अपना मूल खोजते रहते हैं।

इस प्रकार, ब्रह्म से भी ये सभी भिन्न नहीं; सभी चिद्रूप ही हैं। जैसे कनक और उसी के कुण्डल, लोह और उसी के आयुध, अग्नि और उसी के स्फुलिंग, समुद्र और उसी के तरंग, और सूर्य और उसी की किरणें ये सभी, एक रूप होने पर भी, केवल वाणी से पृथक् माने जाते हैं। यह सब नाम और रूप का भेद है। अतः नाम ही सुखदायक है, यह समझ कर उसी के स्मरण से सिद्धि प्राप्त होती है। यही भक्ति है।

चौंतीस अक्षर की वाणी से ब्रह्म का ही निश्चय होता है। वही क्षेत्रज्ञ है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का प्रकाशक आत्मा ही है। उसका ज्ञान गुरु से ही होता है, यद्यपि कण्ठ में मणि की तरह वह सदैव निकट ही है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव और इनकी शक्तियां, साधुजन, सिद्ध, गन्धर्व, सभी आत्मा को खोजते रहते हैं। उसके स्वरूप का वर्णन वेदों और उपनिषदों ने भी 'नेति नेति' कह कर ही किया है।

संसार की उत्पत्ति का कारण माया और अविद्या है, और उसका उपादान कारण, कुम्भकार की भांति, आत्मा माना जाता है। वास्तव में लिंग-देह, कर्म के ही कारण, छोटे-बड़े मिट्टी के बर्तनों की भाँति अपना रूप धारण करता है और उस स्थूल शरीर में चिदात्मा प्रविष्ट होकर उसका पालन करता है। तब वही अपना मूल रूप भूल कर और स्वयं को स्त्री या पुरुष समझकर और देह आदि के असत् संग में प्रवृत्त होकर ब्राह्मण आदि वर्णभेद भी देखने लगता है। उसे यह भी भान नहीं रहता कि काली और पीली गाय का दूध एक ही रंग का होता है। जिस चिदात्मा ने एक चित्रकार की तरह समस्त विश्व को चित्रित किया है, वही सूत्र में मणि की तरह सर्वत्र स्यूत है। इस प्रकार जो आत्मा को चिद्रूप जानता है, वही शान्ति प्राप्त कर सकता है।

प्रणव से ही विश्व की उत्पत्ति हुई है। शास्त्र की उक्ति भी है कि तीनों धामों (स्वर्ग, सत्य और पाताल) में भोग्य, भोग और भोक्ता से विलक्षण सदा-शिव हैं। अतः देह-त्रितय का लय करके उस परमात्मा का ध्यान करना योग्य है। यह तभी संभव है जब जीवों की मोहिनी इस माया का नाश हो। सुषुप्ति-प्रधान अविद्या और बुद्धि-प्रधान विद्या ये दोनों एक ही हैं। उसी प्रकार जीव और पुरुष एक ही हैं। उसी पुरुष से चतुर्विध संसार—स्वेदज, अण्डज, उद्भिज और

जरायुज की उत्पत्ति हुई है। अतः आत्माराम ही पूर्ण है और उसी की शक्तियाँ काम करती रहती हैं। उसी का सेवन करना चाहिए।

जीव और ईश्वर ये दोनों जुलाहे के समान हैं, जो आत्मा का मर्म न जान कर अपने देह और ईशत्वाभिमान से संसार-प्रपंच का ताना बुनते ही रहते हैं। अविद्या-रूपी पृथ्वी और अहंकार-रूपी आकाश ये दोनों इन जुलाहों के पांव रखने के दो गर्त हैं और इड़ा और पिंगला नाड़ियों में विद्यमान दिन और रात के प्रकाशक सूर्य और चन्द्र तूरी और वेमा के समान हैं। अज्ञान की अनन्त वृत्तियां तन्तुओं का काम करती हैं। इस प्रकार जीव अनेक योनियों को प्राप्त होता है और ईश सृष्टि-सर्जन के उपयुक्त देह को प्राप्त होता है। इस प्रकार संसाररूपी पट का विस्तार होता रहता है। ऐसी परिस्थिति में आत्मज्ञान दुर्लभ ही है। (यहाँ इन दोनों नाड़ियों का सम्बन्ध श्वासोच्छ्वास से है अर्थात् जब तक मनुष्य जीता रहता है।)

आत्म-विचार करने के बारे में मैं सरीखा कहता आया हूं पर कोई सुनता ही नहीं। जन्म-मरण-रूप संसार-पथ में कोई तो उच्च पद प्राप्ति की इच्छा से यज्ञादि करता है और सुतकलत्रादि अभिमान में चित्त लगाता है, कोई योगाभ्यास में मग्न रहकर (औरंत) अपना ताना पसारता है। पर इससे भ्रम का नाश नहीं होता। परोक्षवाद में पूर्णता नहीं है। परम्परा से यही कहा जाता है और साधुजनों का उपदेश भी यही है। शास्त्र के फेर में पड़ने से तो अहंकार की वृद्धि ही होती है:—

कुशला ब्रह्मवार्तायां वृत्तिहीना सुरागिणः।
ननु तिष्ठन्ति मैत्रयि, शिश्नोदरपरायणाः॥

अतः शास्त्रवाद को छोड़ कर आत्म-चिन्तन करने से ही आनन्द-प्राप्ति होगी, जैसे गर्मी से सन्तप्त व्यक्ति जलपान से ही शीतलता प्राप्त करता है।

स्वयं को जीव और मनुष्य समझने का कारण अज्ञान ही है, जिससे यज्ञ आदि कर्म में प्रवृत्ति होती है। काम्य कर्म स्वरूप का नाश करता है। आत्मज्ञान रूपी सूर्य का उदय होने पर विभिन्न मत तारों के समान नष्ट हो जाते हैं। आत्म-ज्ञान सद्गुरु ही करा सकता है। वह भ्रम-रूप सर्प को नष्ट कर देता है।

दर्शन-वादी अद्वैत और द्वैत आदि पक्षों के विवाद में उलझे रहने के कारण आत्मज्ञान से दूर ही रहते हैं, इसी कारण उन्हें शान्ति नहीं मिल सकती। फूल, पत्ते आदि में जीव हैं और वे पृथ्वी के रोम ही हैं, यह मानने वाले जैनी भी उन्हें अज्ञान से तोड़ते ही हैं। ये सभी असत्य को सत्य मानते हैं।

कर्म, माया, वासना ग्रौर मोक्ष ४-२५ ३३-३५;४६-४७

ग्रात्मज्ञान सभी को होना ग्रसम्भव है। साधारण जन वैकुण्ठवासी नारायण को ग्रादिदेव मानकर उसे ही संसार का निर्माता, पालक ग्रौर संहारकर्ता मानते हैं। इसके ग्रतिरिक्त, कर्मवादी कर्म को ही प्रधान बतलाते हैं ग्रौर प्रकृतिवादी प्रकृति से ही समस्त जगत् की उत्पत्ति मानते हैं। इस प्रकार, ग्रात्मज्ञान के ग्रभाव में ये सभी बन्धन में पड़े रहते हैं ग्रौर ग्रपनी ग्रपनी वाणी के प्रभाव से दूसरों को मोहित करते रहते हैं। श्रोतृजन भी ग्रपनी ग्रपनी रुचि के ग्रनुसार इनमें से किसी का ग्रनुसरण करते ही हैं, किन्तु परमार्थ से शून्य होने के कारण उन्हें शान्ति-लाभ होना ग्रसम्भव ही है। मीमांसक, वैशेषिक, नैयायिक, पातंजल, सांख्यवादी, वेदान्ती ग्रौर ग्रन्य (पौराणिक, शब्दवादी, नास्तिक)—ये सभी स्वात्मनिश्चय नहीं कर पाते ग्रौर वस्तुतत्त्व के ग्रज्ञान के कारण ये ग्रग्नि में पंतगे के समान गिरते ही रहते हैं।

स्वयं ब्रह्मा भी ग्रपना स्वरूप भूल कर परम तत्त्व की खोज में रहते ही हैं। इसी प्रकार कोई ग्रक्षर ग्रौर प्राण को ग्रात्मा मानते हैं। कोई परम्परा-सम्प्रदाय का प्रवर्तन करते हैं, जिसके ग्रनुसार, ग्राधार-चक्र में परा, हृदय-चक्र में मध्यमा ग्रौर कण्ठ में वैखरी का निवास है। इसी भाँति ग्रनेक मत प्रवर्तित होते रहते हैं। किन्तु ग्रविद्या के उच्छेद के बिना ग्रात्मज्ञान होना ग्रसम्भव ही है। खसम (ग्राकाश के तुल्य लेप-रहित ग्रात्मा) को भूल कर ये सभी कर्म-बन्धन में ग्रौर उसी से स्वर्ग ग्रौर नरक के बन्धन में पड़ जाते हैं, जैसा कि श्रीमद्भागवत में कपिल ने देवहूति को कहा है।

ग्रात्मा, ग्रन्तश्चैतन्य ही है, जैसा पूर्व दिशा में सूर्योदय। वह स्वयं प्रकाशमान ग्रौर गतिमान मैं ही हूं इस बुद्धि से उसका ज्ञान होता है।

ग्रज्ञान के ही कारण चित्त में व्यामोह होता है ग्रौर इसी से हिंसाप्राय क्रतु किये जाते हैं; जिनसे नरक की प्राप्ति होती है। गुरु के बिना उद्धार ग्रसम्भव ही है। खसम (ग्राकाश के समान सर्वत्रैकरस ब्रह्मज्ञान) के बिना जीव सुख ग्रौर दुःख के फेर में पड़ता रहता है, जैसा कि उपनिषदों की भी उक्ति है, ब्रह्मज्ञान के ग्रधिकारी बिरले ही होते हैं—"यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः"।

परमानन्दस्वरूप ब्रह्म ग्रवणनीय है। उसका न रूप (स्थूलत्व ग्रादि) है, न रेखा (चिह्न)। ग्रात्मसुख का भान स्वयं को ही होता है, जैसा कि "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" यह उक्ति है। वेद-मूल ग्रोंकार भी जिसमें लीन हो जाता है उस स्वानन्द-प्राप्ति में कुल, तारे, चन्द्र ग्रादि सभी विलीन हो जाते हैं ग्रौर सब कछ ब्रह्ममय हो जाने के कारण, पंचतत्त्व भी विलीन हो जाते हैं, वैसे ही नाम,

वर्ण और ज्ञाता भी। रात्रि और दिन भी लीन हो जाते हैं। राम हृदय में कहा है कि शुद्धचित्त और घनरूप राम में न तो सूर्य का ही अस्तित्व है न रात और दिन का।

ज्ञानी खानपान और इन्द्रिय-व्यवहार में तो सहज प्रवृत्त होता ही है। निर्द्वन्द्व व्यक्ति सुख-प्राप्ति की अवस्था में गुणातीत हो जाता है; उस अवस्था में वायु, जल आदि भी नहीं रहते, और न कली (कुन्दरूप मन), न फूल (पुष्प के समान विकसित बुद्धि), न गर्भ (स्थूल-सूक्ष्म-कारण देह), न मूल (अज्ञान), और न इन सबकी प्रवर्तक माया ही रहती है। शब्द, पिण्ड, ब्रह्माण्ड, पृथ्वी, आकाश आदि भी तब नहीं रहते (इन सबका भान नहीं रहता)। वह स्वरूप-सुख इन्द्रियातीत है; अवाच्य और गुणातीत है; यह समस्त जगत् अविद्या की ही कल्पना है और माया का विनाश हो जाने पर शुद्ध ब्रह्मस्वरूप ही रह जाता है। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार तब "तत्त्वमसि" वाली स्थिति हो जाती है। इस महाविद्याका अधिकारी वैराग्यविवेकवान् ही है। "मैं वही हूं" यह इन दोनों का (जीवात्मा और परमात्मा का) सम्बन्ध है; "मैं ही ब्रह्म हूं" यह विषय है और ब्रह्मावाप्ति ही यहाँ प्रयोजन है। छान्दोग्य, बृहद्वासिष्ठ और गीता में भी यही प्रतिपादित किया गया है

(३) विरुद्ध मतों का प्रत्याख्यान—३१-३२, ३६-४६

यह ब्रह्मस्वरूप न तो कृच्छ्रचान्द्रायणादि से प्राप्त हो सकता है और न अष्टांगयोग-साधन से ही। इन दोनों के समर्थक वासनारूपी शृङ्खला से देह के प्रकाशक प्राण को बाँधना चाहते हैं, जो व्यर्थ ही है, क्योंकि कर्म का मूल वासना है। यम-नियम-रूप राग-द्वेष का वाहन तो अविद्या से उत्पन्न अहंकार ही है। अत: इस मार्ग से उस स्वरूप का ज्ञान होना असंभव है, जिससे संसृति-बन्धन छूट जाए। मुमुक्षावती नारी भी चाहे तो निष्कामता से ब्रह्म-निश्चय करने के द्वारा मुक्ति प्राप्त कर सकती है।

लिंग-देहरूपी वासना ही पुनर्जन्म और शरीर-त्रय में अभिमान का कारण है। वह सत्रह तत्त्वों से बनी है, वे हैं—महत्, अहंकार, पाँच तन्मात्रायें और दस इन्द्रियाँ। सूर्य और चन्द्र को इड़ा और पिंगला नाड़ियों में स्थित बतलाना भी अभिमान ही है। अत: स्वरशास्त्रज्ञान भी बन्धन का कारण है और इसी प्रकार पुत्रेष्टि यज्ञ भी। इन सब बन्धनों में पड़ने वाला अविवेकी ही है; वह आत्मानन्द को नहीं जान सकता, क्योंकि निष्काम कर्म से ही जीवत्व का नाश होता है।

सकाम कर्म में सभी बंधे हैं—ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी। शिव ने दक्ष का यज्ञ भंग किया था और विष्णु ने, अपने ब्रह्मलोक में जाने के समय ध्यानस्थ

सनकादि के द्वारा सत्कार न किये जाने पर उन्हें षण्मुख होने का शाप दिया था, जैसा कि बृहद्रामायण में कहा गया है। ब्रह्मा भी स्वयं के आदि, मध्य और अन्त को नहीं जानते; उनके मुख से प्रसृत हुई स्वर्ग और नरक का बन्धन करने वाली वाणीसे डरने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि तू स्वयं प्रकाशरूप है। बन्धन में डालने वाली सकाम-कर्म की बीजरूप इस वासना का डर छोड़ दे। यह मलिन वासना शरीर में सदैव निवास करती है, और उससे मोह भी करती है, जैसे नीम के कीड़े को नीम का रस भी प्यारा लगता है। विषय-लम्पट पुरुष स्वर्गादि-भोग की वासना को अमृत के समान मानता है। विषयों को विषतुल्य मानकर उनमें अनासक्ति रखना ही स्वात्मसुख है, इसके विपरीत, स्वयं को नररूप मान कर, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी में पड़कर मृगतृष्णा के समान स्वर्गादि में आशा लगाना लिप्त रहना ही है। मनुष्य-देह धारण करने पर भी इस ज्ञान के अभाव में कोई भी व्यक्ति पशु से भी गया बीता है, क्योंकि पशु-शरीर का तो चर्म भी उपयोगी है। वाणीरूप वेद भी ब्रह्म को सर्वदा-एकरस बतलाते हैं।

दुर्ग-पाषाण-रूप अज्ञान से कीलित यह मृण्मय शरीर एक वन के समान है, जिसका रक्षक चैतन्यरूप है। वही चैतन्य अन्य शरीर में प्रवेश करते समय भयभीत हो जाता है। जीवरूपी किसान अपनी फसल के अनुसार सुख-दुःख का संचय करता रहता है, इसका कारण वासना ही है। अध्यात्म रामायण में वाल्मीकि ने कुश को यही उपदेश दिया है।

प्राणायाम आदि से शरीर को कष्ट देने वाले अष्टांगयोगी भी अज्ञानी ही हैं। इस प्रकार अनेक मतवादी हैं, हर एक अपने मत को सर्वोच्च सिद्ध करता है। देखा जाए तो संसार सियार के समान लुटेरा है। सर्वलय करने वाली ब्रह्मविद्या बिल्ली के समान है और ज्ञान का हरण करने वाला मन चूहे के समान है। ये दोनों एक साथ नहीं रह सकते। निश्चयात्मिका बुद्धि-रूपी हथिनी अज्ञान-रूपी सिंह का नाश करती है।

पूर्व जन्म के संचित कर्मों के कारण कठिन मोहपाश में बंध जाने से "तू वही है" यह उपदेश सुनने पर भी व्यक्ति वासना-बद्ध होता है, जिससे उसे स्वर्ग और नरक का उपभोग करना पड़ता है। पंच महाभूत, दस इन्द्रियाँ और मन इन सोलह तत्त्वों से प्रकाशमान पुरुष षोडश-कलाओं से परिपूर्ण चन्द्रमा के समान है; किन्तु अज्ञान रूपी अन्धःकार उसे ग्रस्त कर देता है। इसी से देह में बुद्धि होती है, जो नीच है। यही देहेन्द्रिय अभिमान संकल्प-विकल्पात्मक बुद्धि के कारण विवेक को नष्ट कर देता है, जिससे विषयों के और मतमतान्तरों के फेर में पड़ जाना स्वाभाविक है। श्रुति भी यही कहती है। मत भी अनेक हैं, जैसे

किसी ने ब्रह्मा-पूजा का पन्थ चलाया, किसी ने अन्य। वस्तुतः ब्रह्म ही सब कुछ है; वही सत्य है—"ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या"।

मतवादियों के कहने से जो व्यक्ति कर्म-मार्ग में प्रवृत्त होते हैं वे आत्म-विचार से शून्य हैं। तमोरूप अज्ञान उन्हें आकाश को मेघ की तरह घेर लेता है। वे भी दूसरों को काम्य-कर्म का बोध कराते रहते हैं। इसका विवेचन श्रीमद्भागवत में नारद और व्यास के संवाद में किया गया है। "ईश्वर एक ही है और मैं उसका दास हूं" इस प्रकार भेद-बुद्धि उत्पन्न करने वाले जो व्यक्ति अन्तःकरण-चतुष्टय से उत्पन्न देह-त्रय में अपना कर्तृत्व और भोक्तृत्व मानते हैं, वे भी अपने स्वरूप को नहीं जानते। वे अज्ञान-रूपी कम्बल को ओढ़कर, "मैं वैष्णव हूँ" इस प्रकार की वासना से दूषित होकर वर्णाश्रमाभिमान के फेर में पड़ कर अनेक योनियों में भ्रमण करते रहते हैं। वर्णाश्रमाभिमान भी वासना है और उसी से पुनर्जन्म होता है, जैसा कि वेदों में भी कहा है।

आत्म-तत्त्व को न जानने वाला अज्ञानी योग, भक्ति, जप-तप, व्रत, दान आदि का अनुसरण करता हुआ मन से थक जाता है और बुद्धिमान् इनसे दूर ही रहता है। जब तक सकाम-कर्म रूपी वासना निकट है, तब तक आत्मविचार नहीं हो सकता।

इस मायारूपी अज्ञान के कारण ही देह में सत्य बुद्धि होती है। बच्चों के मधुर भाषण, कामुकता, चंचल मन, नारी प्रेम, तारुण्य—ये सभी पतन के मूल हैं और इनमें निरन्तर प्रवृत्ति के कारण आत्मज्ञान नहीं हो पाता। आत्माराम की उपलब्धि पुण्य से ही होती है। वही आत्माराम अज्ञान का उच्छेद करने वाला शौनिक भी है ? जो अपने बुद्धिरूपी हाथ से गुरु-सेवा, भक्ति और सत्संग आदि साधन के द्वारा, "मैं मनुष्य हूं" "मैं ब्राह्मण हूं" इत्यादि प्रकार के माया-जन्य अहंकार का उच्छेद कर डालता है। तभी स्वात्माराम का प्रकाश भी होता है, अन्यथा अनेक योनियों में भ्रमण का दुःख सहना पड़ता है।

हम भूलते हैं कि ब्रह्मा से चींटी तक सभी जीव और नामरूपात्मक यह समस्त विश्व शुद्ध-स्वरूप राम ही है। यह माया और अविद्या का प्रपंच है; कि उपनिषद् के वाक्य मुंह से उच्चारण करने वालों को उनका बोध नहीं होता और वे यह भी नहीं जानते कि हमारे इसी शरीर में चिदात्मा विद्यमान है। इसका कारण, जैसा कि गीता में बतलाया है, ज्ञान अज्ञान से आवृत है और उससे जन्तु मोह में पड़ जाते हैं।

चिदात्मा प्राणघोष नहीं, किन्तु मनुष्य स्वयं है। वह शरीर का और

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, विश्वतैजस और प्राज्ञ इन अवस्थाओं का प्रकाशक है। इसे छोड़कर देह में अभिमान करना व्यर्थ ही है। अतः मनुष्य-शरीर प्राप्त करके वासनामूल अहंकार से विषयाग्नि में जलना छोड़ कर राम-नाम का स्मरण करना योग्य है। यह संसार-सागर पार करने के लिए वही नौका है। "मैं चिदात्मा हूं" यह ज्ञान उदित होने पर वासना अपने आप नष्ट हो जाती है, जो वस्त्र में तन्तु की भाँति सांसारिक सुख में व्याप्त है। चिदात्मा सर्वव्यापी है— "जले विष्णुः स्थले विष्णुः विष्णुः पर्वत-मस्तके" (विश=व्याप्त होना)।

आत्मा कर्म-रहित है; उसकी प्राप्ति कर्म से नहीं हो सकती और न आश्रम शास्त्र, जप-तपादि से ही। कहा भी है—

तपन्तु तापैः प्रपतन्तु पर्वतादटन्तु तीर्थानि पठन्तु चागमान्।
यजन्तु यागैर्विवदन्तु, योगैर्हरिं विना नैव मृतिं तरन्ति॥
(श्रीधरयतीन्द्रोक्ति)

न कर्मणा न प्रजया धनेन
त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः (श्रुति)

श्रीमद्भागवत में भी कहा ही है कि विषय-सुख अल्पकालीन ही है और उसका अन्त दुःखदायी है। प्राणवायु आत्मज्ञान का नाश करती है। करंग, मातंग, पतंग, भृंग और मीन विषयों द्वारा ही फंसाए जाते हैं, यह अवधूत ने यदु को कहा है अतः देह और दारा आदि में प्रीति निरर्थक ही है—जगत् रज्जु में सर्प-भ्रम के समान है। ब्रह्मसौख्य का अन्त नहीं यह भी भागवत की उक्ति है।

शास्त्रवादी और पौराणिक विविध प्रकार के उपदेश देते हैं, किन्तु आत्म ज्ञान को भुला ही देते हैं, और मैं मनुष्य हूं यह मान कर व्यक्ति को अनेक योनियों में भ्रमण करना पड़ता है। देह तो केवल दस इन्द्रियाँ, दस प्राण, पंच तन्मात्राएँ, पंच महाभूत और अन्तःकरण-चतुष्टय का संयोगमात्र है। उसकी उत्पत्ति "क" से "क्ष" तक के वर्णों से होती है। वही देह पाप, पुण्य और इन दोनों के मिश्रण से क्रमशः पक्षी, देव और मनुष्य की योनि धारण करता है, और जैसा कि गीता, श्रीमद्भागवत तथा अन्य शास्त्रों में भी कहा है, स्थिर बुद्धि और असंमूढ को ही ब्रह्मज्ञान होता है।

पाराशर आदि स्मृतियों का भी मत है कि निष्काम कर्म ही ज्ञान-प्राप्ति का साधन होने के कारण शुभ है। सकाम कर्म अशुभ है, जिससे स्वर्ग आदि प्राप्त होते हैं पर वह पुनरावर्तन का कारण है। वेद और स्मृति का अध्ययन करने पर भी आत्मज्ञान से विहीन व्यक्ति सुख, दुःख आदि से श्रान्त होता है

और देह, दारा आदि में उसका ममत्व बना रहता है। वह तामसप्राय यज्ञों में प्राणी वध भी करता है। यह सब भ्रम है।

वेद, पुराण और स्मृतियों का अध्ययन करने पर भी वर्ण और आश्रम में अभिमान करने वाला व्यक्ति उस अन्धे के समान है जो स्वच्छ दर्पण में अपना मुंह नहीं देख सकता। वह केवल उस पशु की तरह चन्दन का भार ढोता है जो चन्दन की सुगन्ध नहीं जानता, या उस करछी के समान है, जिससे पाक बनता है पर वह उसका रसास्वादन नहीं कर सकती।

स्मृति वेद से ही उत्पन्न हुई है, किन्तु वह अपने हाथ में एक रस्सी लेकर आई है और उसी से वह व्यक्ति को अज्ञान में बाँधकर आश्रम आदि के मिथ्या अभिमान में प्रेरित करती है। तब जीभ से राम-नाम का उच्चारण करने पर भी उसे शुद्ध स्वरूप का भान नहीं हो सकता और वह व्यक्ति परमानन्द से वंचित ही रह जाता है।

ज्ञान और अज्ञान, पाप-पुण्य, सगुण-निर्गुण, सृष्टि, ब्रह्माण्ड, वैकुण्ठादि लोक-ये सभी नाशवान् हैं और अव्याकृत स्थिति में इस सारे माया-प्रपंच का अन्त करके वही एक अविनाशी चिदात्मा रह जाता है। सारा संसार उसी में निहित है। वहाँ चींटी के समान सूक्ष्म मन की भी गति नहीं और राई के समान सूक्ष्म बुद्धि भी वहाँ स्थिर नहीं हो सकती।

पण्डित-जन, जो स्वयं प्रकाशरूप हैं, आत्मा को न जानकर संध्या, तर्पण, दान, यजन-याजन आदि कार्यों में प्रवृत्त होते रहते हैं। यह सकाम कर्म आत्म-ज्ञान के बिना पुनर्जन्म का कारण बनता है। शूद्र आदि का स्पर्श होने पर वे जल-मार्जन करते हैं। अनुभव-सिद्ध निर्गुण स्वरूप को भूल कर "मैं मनुष्य हूं" यह गर्व वे करते हैं। गीता में कहा है कि अहंकार से विमूढ़ व्यक्ति प्रकृति से किए जाने वाले गुण-कर्म-विभाग को स्वयं पर आरोपित कर लेता है। मैं देह हूं यह मलिन अहंकार ही है। चैतन्य-स्वरूप निर्वाण ही परमानन्द को देने वाला है। जिसने आत्मस्वरूप निश्चित कर लिया है वही चतुर और नेत्रयुक्त है। सगुण ध्यान और काम्य कर्म से मुक्ति नहीं होती। मीमांसक, वैशेषिक, नैयायिक, शब्दवादी, सांख्यवादी, वेदान्ती इनके मत में वैसे ही हिन्दू और मुसलमान इन दोनों के मत में भी आत्मा कर्म से परे है। आत्मा में जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनों अवस्थायें जब नहीं है तब हिन्दू या मुसलमान यह भेद भी नहीं है। नरक और स्वर्ग की कल्पना का कारण भी अविद्या ही है।

आपादमस्तक देह-भावना रखने वाला व्यक्ति अविद्या-रूपी सागर और अभिमान-रूपी गर्त में ही रहता है और उसकी मलिन वासना नष्ट

नहीं होती। आत्मा स्वयं में विद्यमान है। देहाभिमान ही संसार का मूल है, जैसा कि अध्यात्मरामायण में लक्ष्मण को श्रीराम का उपदेश है—

> देह एव हि संसारवृक्षमूले दृढं स्मृतम्।
> तन्मूलं पुत्रदारादिसंगमः पार्थसंगमः॥

नरदेह से ही आत्मप्राप्ति होती है अतः सज्जन का सहवास करके अब भी जागो, नहीं तो अज्ञान रूपी चोर तुम्हें लूट लेगा। हिरण्यकशिपु, राम, रावण, कंस, कृष्ण, मुनि, चन्द्र और सूर्य-वंशी राजा, इन सभी के देह नष्ट हो गए। फिर भी इस ओर दुर्लक्ष्य करके दूध के समान शुद्ध स्वरूपामृत को छोड़कर मीन-रूपी यह लोक देह-रूपी जल में गिरता है। उसकी गति मछली के मुंह में केंचुए के समान और सर्प के मुंह में चूहे या छछूंदर जैसी होती है, जो इनका नाश करती है।

ज्ञान, अज्ञान, पाप-पुण्य, सगुण-निर्गुण, अग्नि-जल आदि से बनी सृष्टि अनेक ब्रह्माण्ड—ये सभी माया-प्रपंच नाशवान् है। अन्त में अविनाशी चिदात्मा ही शेष रह जाता है।

जरासन्ध, शिशुपाल, सहस्रार्जुन, रावण, दुर्योधन, पाण्डव, हरिश्चन्द्र—इन सब को माया ने मोह लिया था। भागवत में भी कहा है कि तीनों लोक मिथ्या हैं, जहाँ केवल मिट्टी, पानी और तेज का विनिमय होता है।

कहते कहते लम्बा समय हो गया किन्तु सुत और नारी (मन, ईहा और अहंकार) आत्मा को नहीं जान पाए। सदुपदेश सुनने पर भी मन भटकता ही है। आत्मज्ञानी ज्ञान-रूपी तलवार से मोहपाश के बन्धन को काट देता है। स्वयं अविद्या को जानने वाले बिरले ही होते हैं।

(४) सदुपदेश ५०-५७

"यतो वाचो निवर्तन्ते" इस उक्ति के अनुसार जो [ब्रह्म] अवाच्य ही है, उसके बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। चिदात्मा सदैव स्थिर है और चित्त और शरीर ये दोनों स्थिर होने पर भी शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति करने में असमर्थ ही है। शिव भी जिसे खोजते ही रहते हैं और सहस्रमुख शेष जिसका पार नहीं पा सकते उसका दर्शन "मैं आत्मा ही हूं" इस ध्यान से तुरीयावस्था में ही हो सकता है। शरीर-त्रय से मुक्त वही सच्चिदानन्द इस विश्व का प्रकाशक है यह विचार करने पर मनुष्य तद्रूप हो जाता है। देह अन्धा है, अज्ञानी है, और उसके विचार ने ही सब को अन्धकूप में ढकेल दिया है। देह सभी के नष्ट हो

गए (यहाँ व्याख्याकार ने पाण्डित्य प्रदर्शन किया है) मछन्दरनाथ, गोरख आदि के देह का भी अन्त हुआ हो। ब्रह्म का रूप सगुण भी है यह जानने के बाद भी जिन्होंने निर्गुण ब्रह्म में चित्त निश्चल किया है, वे ही सुखी हैं।

अतएव देहाभिमान छोड़कर आत्मा का ही चिन्तन करना अभीष्ट है। राम और लक्ष्मण आदि के भी देह नष्ट हो गए। अतः अहंकार छोड़ना ही योग्य है जैसा कि श्रीमद्भागवत के बारहवें स्कन्ध में परीक्षित के वैराग्य के उपदेश के समय कहा है।

देहाभिमानी आत्मज्ञान से क्षीण होने के कारण जन्म-मरण-रूप गर्त में गिर जाता है और वहाँ से उठ नहीं सकता। वह स्वयं का विचार न करके विज्ञानियों का उपहास करता है। सकाम यज्ञ करने और कराने वाले आचार्य भी आत्मतत्त्व नहीं जानते। उपनिषदों का अध्ययन करने पर भी, लक्ष वर्ष की आयु तक वैषयिक सुख-भोग का उपदेश देने वाले भी भ्रम में ही रहते हैं। वस्तुतः वैराग्यपूर्वक गुरु-सेवा ही अहंकार का नाश करती है। इसलिए, हे स्वान्ततुष्टात्मन्, तू धागे में मणि के समान सर्वत्र अनुस्यूत और सब वस्तुओं में प्रमाण-रूप है। श्रीमद्भागवत और गीता में भी कहा है कि जिस जिस रूप में भक्त सेवा करता है वह मेरी ही सेवा है। श्रीकृष्ण ने यह भी कहा है कि मेरी उपलब्धि ज्ञान रूपी तप से ही होती है।

(५) उपसंहार—प्रभु-भक्ति, गुरु-माहात्म्य, शरणागति आदि ५८-८४

वासना छींके पर एक के ऊपर एक रखे बर्तनों की तरह बढ़ती ही जाती है और वह आत्मज्ञान को दूर कर देती है। स्वर्ग, पाताल, पृथ्वी आदि का अहंकार आत्मज्ञानरूपी भित्ति पर उकेरे गए चित्र ही हैं। किन्तु जब मूल भीत (आत्मज्ञान) ही नहीं, तो उस पर उकेरे हुए चित्रों का अस्तित्व नहीं रह सकता।

वर्णाश्रम के पक्षपाती हर प्रकार की दलीलें देते हैं किन्तु देहाभिमान में मग्न होने के कारण वे सत्यवस्तु को नहीं जानते। वे निर्गुण का गान करते हैं पर यह नहीं जानते कि देह तो पंचतत्त्व में मिल जाती है और आत्मा निकट ही है वस्तुतः यह सारा विस्तार माया का ही है और सभी की उत्पत्ति का स्थान एक ही है। कोई भी व्यक्ति जन्म से शूद्र ही होता है और मरने के बाद भी शूद्र ही। अनेक रूप और वर्ण-भेद करने वाला वही एक आत्मा है और वेदों के सिद्धान्त के अनुसार उसी की सेवा करना योग्य है। शरीर को ही प्रमुख मान-कर योग, कर्म आदि करने वाला काल-पाश में बँध जाता है। जैसे जल के बिना मछली सुखी नहीं रह सकती, उसी प्रकार आत्मानन्द प्रेमवाणी की वर्षा न करे तो राग और द्वेष अन्तःकरण में घर कर लेते हैं। बाह्योपासना केवल स्वाप्निक निधि है। आत्म-स्मरण के बिना भ्रम-जाल से मुक्ति होना असम्भव है।

सच्चा हितकारी वही है जो कुमार्ग पर जाते हुए व्यक्ति को सन्मार्ग पर लाता है। सुत, दारा और धन का ग्रभिमान व्यर्थ ही है। ये सत्य-स्वरूप से दूर ले जाते हैं। इन सभी का ग्रहंकार न करके ग्रात्म-स्वरूप के चिन्तन से सुख मिलता है।

देह-चालन ग्रादि भक्ति नहीं किन्तु नटविद्या ही है। मन ग्रौर बुद्धि में जब तक ग्रात्मज्ञान नहीं होता, दुःख ही होता है। सच्ची तृप्ति तो ग्रात्मज्ञान से ही होती है। माया भी नट की तरह क्रीड़ा करती है। उसे छोड़ कर ग्रात्मा का चिन्तन करना चाहिए। जिसकी देह में ग्रासक्ति है वह कभी भी सच्चा योगी नहीं हो सकता। ऐसे व्यक्ति शैव, वैष्णव ग्रादि मार्गों का प्रवर्तन कर पूज्य बनते हैं। वे सुन्दरियाँ भी साथ रखते हैं जो उन्हें कभी तो भ्रष्ट कर ही देती है। ये सभी कुयोगी हैं। दत्तात्रेय ने कब दुर्ग का रक्षण किया था; शुक, नारद, व्यास ग्रादि ने कब बन्दूक चलाई थी ? ये सभी कुयोगी ग्रात्मा को भूलकर गाफिल हो जाते हैं।

सज्जन के साथ वार्तालाप हितकारी है ग्रौर मूर्ख के साथ प्रमाद। ग्राधा भरा घड़ा छलकता है, पूरा नहीं।

दुःख ग्रौर ग्रानन्द इन दोनों को समान मानना योग्य है। मलिन वासना को छोड़कर शान्ति का ग्रलंकार धारण करने में हित है। यह सब गर्वनाशिनी ग्रात्मविद्या से ही सम्भव है। उसे भूल कर वर्ण का ग्रभिमान करना कौए ग्रौर चील के पंख फैलाने के समान व्यर्थ ही है। नारी दीवाल के समान जड़ है। ग्रात्मज्ञानी चन्दन ग्रौर विष्ठा में, वैसे ही, लबंग ग्रौर लपसी में भेद नहीं करते।

माया का न तो ग्रादि है, न ग्रन्त। वह सारे संसार में व्याप्त है ग्रौर उसी से सारा संसार भ्रमित है। चूहा (ग्रज्ञान) ग्रौर बिल्ली (वासना का ग्रन्त करने वाली विद्या) साथ नहीं रह सकते। ज्ञान रूपी हाथी सिंह-रूपी ग्रज्ञान का नाशक है। सर्वत्र फैली इच्छा स्वभाव से विषय की ग्रोर जाती है। उसी प्रकार, श्वास-रूप वायु भी बहती ही रहती है। समय प्रतिक्षण ग्रायु को कम करता रहता है। दानादि कर्म सोए हुए व्यक्ति के ऊपर खाट के समान हैं। इसी कारण माया में लिप्त ग्रज्ञानी निष्काम नहीं हो सकता ग्रौर न शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान ही कर सकता है। वह सुत ग्रौर दारा ग्रादि में ग्रासक्त रहता है।

इन सब कारणों से ग्रात्मज्ञान का चिन्तन ही हितकर है। वह ग्रात्मतत्त्व निर्गुण ब्रह्म ही है, ग्रवतार नहीं। न तो वह दशरथ का पुत्र राम है, न यशोदानन्दन कृष्ण, या उसके ग्रवतार। ग्रवतार तो सब देह ही थे, ग्रात्मा नहीं। ग्रतः माया

ग्रौर मोह का फन्दा छोड़ कर इस समस्त प्रपंच के मूल राम-नाम का चिन्तन करना ही ग्रभीष्ट है। वह सर्वत्र व्याप्त है ग्रौर रूप-ग्ररूप, भूख-प्यास, धूप-छाया सुख-दु:ख ग्रादि से परे है। उस सत्य-रूप को छोड़ कर माता-पिता, स्त्री पुत्र, सम्बन्धी ग्रौर पशु-पक्षी भी स्वार्थवश जिसके शत्रु बने हैं, उस शरीर को नश्वर समझने पर भी वासना के ही कारण कोई भी व्यक्ति यज्ञ ग्रादि में प्रवृत्त होता है। वासना से देव भी मुक्त नहीं, ब्रह्मा का ग्रपनी पुत्री में, मन्दोदरी ग्रौर तारा का ग्रपने देवरों में, इन्द्र का ग्रहिल्या में ग्रौर चन्द्र का गुरु-पत्नी में ग्रासक्त होना, कुन्ती द्वारा कौमार्य में ही पुत्र को जन्म देना ग्रादि, सब के मूल में वासना ही है।

विषय को उत्पन्न करने वाली माया से छुटकारा पाना ही सच्चा सुख है। इस माया के वृक्ष-रूपी छः चक्र हैं ग्रौर पाप ग्रौर पुण्य इसके फल हैं। ब्रह्मा, विष्णु ग्रौर शिव ग्रादि का ग्रौर कर्मकाण्ड, यज्ञ ग्रादि का कारण यही ग्रज्ञान-रूपी ग्रावरण है।

छोटे बड़े सभी इस माया में बँधे हैं। ममत्व की भावना का कारण भी यही है। इसी में बँधे रहने के कारण सुख, दु:ख ग्रौर संसार में पुनरावर्तन भी होता है। वह ज्ञान होने पर मनुष्य सुख-दु:ख ग्रादि से जल में कमल के पत्ते की तरह, मुक्त हो जाता है।

ग्रात्मा माया से मुक्त है। उसका शरीर नहीं, ग्रत: वह जल से ग्रलिप्त कमल की भाँति है। उसमें संसार भी नहीं, जो केवल भ्रम-कल्पित है। उस निराधार का वाणी से केवल नामोच्चारण ही सम्भव है। भेद सब कल्पित ही हैं। जगत् भ्रम ही है यह विचार कर उससे छुटकारा पाने वाला मुक्त है। ग्रत: जो ज्ञानी, (एक सच्चे) क्षत्रिय के समान, इस वासना-रूपी शत्रु को जीतकर ज्ञान-रूपी ग्रात्मा का दर्शन कर लेता है वही शूर है। संसार मिथ्या है इस ग्रात्म ज्ञान के साथ जो देह छोड़ता है वही मुक्त है।

इस व्याख्या की प्रामाणिकता

इस व्याख्या का सम्पादन करते समय सभी दृष्टिकोणों का विचार करते हुए मैं इसी निष्कर्ष पर पहुंच सका कि कबीर की रचनाग्रों की जितनी हस्तलिखित पोथियां ग्राज तक मिलीं उन सब में यह पोथी प्राचीनतम ग्रौर इसी कारण सबसे ग्रधिक विश्वसनीय है। इस संबन्ध में मैंने जो विचार देश के प्रसिद्ध साप्ताहिक हिन्दुस्तान (५-११ जून १९८३) में प्रकट किए हैं, उन्हें साभार यहां उद्धृत करता हूं।

"कबीर की वाणी का संग्रह उनके भक्तों, शिष्यों ग्रौर ग्रनुयायियों ने किया था ग्रौर इसी कारण इन सभी संग्रहों की प्रमाणिकता ग्राज तक विवादास्पद बनी हुई है। कहा जाता है कि इनकी रचनाग्रों का सर्वप्रथम संग्रह इनके शिष्य धर्मदास ने सं० १५२१ (सन् १४६३-६४ ई०) में किया था। किन्तु धर्मदास की मूल प्रति ग्रलभ्य होने के कारण यह कथन तर्क की कसौटी पर ग्रविश्वसनीय ही है। काल-क्रम के मान से दूसरा संग्रह सं० १५६१ (ई० १५१४-१५) की एक हस्तलिखित पोथी बतलाई जाती है, जिसके ग्राधार पर बाबू श्यामसुन्दरदास ने कबीर ग्रन्थावलि का सम्पादन किया है। किन्तु तिथि के ग्रक्षरों में भिन्नता होने के कारण पोथी का समय भी सन्देहास्पद हो गया है। डा० रामकुमार वर्मा ने जिस ग्रन्थ-साहब को भाषा के ग्राधार पर बीजक से प्राचीन माना है, उसकी प्रामाणिकता भी सन्देह का विषय है, क्योंकि जनश्रुति है कि गुरु गोविन्दसिंह (ई० सन् १६७६-१७०८) ने बासठ घण्टे तक लगातार बोल कर ४४ लेखकों की सहायता से उसे प्रस्तुत कराया था। ग्रतः कबीर साहब की रचनाग्रों का रूप बीजक में ग्रन्य संग्रहों की ग्रपेक्षा प्राचीन होने पर भी इसका समय कबीर की मृत्यु के लगभग दो सौ वर्ष बाद का ही है। इस सारी परिस्थिति में बोधानन्द की इस व्याख्या को प्रामाणिकता, जिसका मूल समय सं १९३४ (ई० सन् १८७७-७८) स्पष्टाक्षरों में लिखा गया है सन्देह से परे है। ग्रन्य सभी प्रतिलिपियां इस के ग्रनन्तर काल की हैं।"

बोधानन्द की इस व्याख्या को ग्रनेक विद्वानों ने हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि माना है। निर्गुण काव्य-धारा के मर्म को समझने में इससे बहुत सहायता मिलेगी ग्रौर कबीर-साहित्य के ग्रनुरागी इसे बड़े चाव से स्वीकार करेंगे। जिन विविध व्यवधानों से जूझते हुए मैंने इस कृति का सम्पादन किया है उनकी ग्रनुभूति करते हुए मैं इसे ईश्वर को ग्रर्पण करता हूं।

मेरी वृद्धावस्था, दृष्टि-दोष ग्रादि ग्रनेक कारणों से इस सम्पादन कार्य में जो त्रुटियाँ रह गई हैं, उनके लिए क्षमा-याचना करता हूं। ग्रभी दो भागों-'साखी ग्रोर सबद (शब्द) का सम्पादन करना शेष है ग्रौर ग्राशा है कि सहृदय मित्रों के उत्साह से वह कार्य भी पूर्ण हो सकेगा।

श्री लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली, के कुशल प्राचार्य डा० मण्डन मिश्र महोदय ने ग्रपने सहज विद्यानुराग तथा संस्कृत भाषा के प्रति प्रेम ग्रौर निष्ठा के फलस्वरूप इस कृति को उक्त संस्था की शोध पत्रिका (शोधप्रभा) के परिशिष्ट में मुद्रित करना सहर्ष स्वीकार किया एतदर्थ मैं उनका ऋणी हूं। उसी विद्यापीठ के ग्रनुसन्धान ग्रौर प्रकाशन विभाग के ग्रध्यक्ष

डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी ने इस कृति के प्रकाशन में जो रुचि ली उसके लिए भी आभार व्यक्त करना मेरा कर्तव्य है । इन दोनों महानुभावों ने डा० मण्डन मिश्र और डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी ने इस ग्रन्थ को अपने विद्वत्ता-पूर्ण प्राक्कथन से विभूषित करके मुझे उपकृत किया है। साथ ही इस व्याख्या की हस्तलिखित पोथी के प्राप्त कराने में प्रयत्नशील डा० लक्ष्मण शुक्ल (प्राध्यापक, संस्कृत महाविद्यालय, इन्दौर) भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने इसे मेरी दृष्टि में लाने के द्वारा हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में योगदान दिया है और जो इस सम्पादन कार्य में समय समय पर मेरी हर प्रकार की सहायता करते रहे हैं।

तारा यत्र न सन्ति, नेन्दु-तपनौ, भूम्यादितत्त्वानि वा,
ज्ञात्रादि-त्रिपुटी-विवेक-रहितं द्वन्द्वैर्विहीनं च यत् ।
यद्भासा सततं विभाति सकलं, यद् व्योमवन्निर्मलं,
तच्चैतन्यमिहास्ति सर्वगमिति प्राहुः कबीरादयः ।।

(हरिहर त्रिवेदी)

३३ शंकरबाग,
इन्दौर (म० प्र०)

श्रीगुरुं वन्दे । श्रीकबीर गोसाईं की दया ।
साधुगुरु की दया ।। श्रीरामाय नमः ।।[1]

श्रीगणेशाय नमः । श्री गुरुपरमात्मने नमः ।
कबीरः केवलं ब्रह्म शुद्धो बुद्धः सनातनः ।
नित्यमुक्तश्चिदानन्दश्चिद्रूपमजमव्ययम् ।। १ ।।

कुराधारः समाख्यात इरा-शब्दः परः स्मृतः ।
यस्योभयं रूपमिदं कबीराय नमो नमः ।। २ ।।

यस्य प्रसादलेशेन बहवो योगिनः परम् ।
स्वरूपमगमंस्तस्मै कबीराय नमो नमः ।। ३ ।।

श्री कबीरकृपादृष्टिप्रसादाच्च तदाज्ञया ।
विज्ञानबीजविस्तारो बोधानन्देन वर्ण्यते ।। ४ ।।

अथ सकलमुमुक्षूणां समुद्धारेच्छया श्रीकबीराख्यः सद्गुरुः सकलोपनिषत्सारभूतं विज्ञानबीजाख्यं ग्रन्थं चिकीर्षुर्लोकशिक्षार्थं प्रथमं वस्तुस्मरणात्मकं मङ्गलमाचरति-श्रीकबीरेति । तत्र 'कु'-शब्दः आधार-वाची, 'इरा'-शब्दो वाणी-वाचकः । कुश्च इरारूपश्च कबीरः । यद्वा, 'कु'-शब्दे, कोः ईरट्, सर्वाधारं परशब्दरूपं यद्वस्तु तदेव कबीर इत्यर्थः । श्री-शब्दः षड्गुणैश्वर्यवाचकः । श्रीयुक्तः कबीरः, स एव परमात्मा, बहिरन्तर्व्याप्यपि ब्रह्मेति भावः । गोसाईं-गोशब्देन पिण्डब्रह्माण्डयोर्ग्रहणं, तयोः प्रवर्तकः सद्रूपः श्रुतिप्रतिपादकः । यद्वा, द्वैतपक्षे गवामिन्द्रियाणां स्वामी=नियन्ता, प्रकाशक इत्यर्थः । तस्मात्कबीरः । ब्रह्म जीवेश्वरावपि कबीरौ । सर्वे धीराः सर्वाणि नामानि रूपाणि कबीरा एव; श्रुतयश्च कबीरा एवोच्यन्ते । तस्य ब्रह्मणो दया=कृपातिशयः । जीवेश्वरधीरश्रुतीनां पूर्वोक्तानां दया ममोपरि भवत्वित्यर्थः ।

---

१. ये दोनों पंक्तियाँ मूल से असम्बद्ध होने पर भी पृष्ठ के बीच में लिखी हैं और बोधानन्द द्वारा प्रणीत हैं । उन्होंने इनकी भी विस्तृत व्याख्या की है ।

साधुगुर्विति-सर्वेषां जीवानामज्ञाननाशरूपं कार्यं साध्नोति स साधुः। स एव गुरुर्गरीयान्, श्रेष्ठतम[२] इत्यर्थः साधुश्चासौ गुरुश्च साधुगुरुः=स्वात्मारामः। तद्दयानुग्रहो ममोपरि भवत्वित्यर्थः। तल्लक्षणं भगवद्गीतासूपनिषत्सु स्फुटमुक्तम्। 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च। निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ।। सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः। मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद् भक्तः स मे प्रियः ।। यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः। हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ।। अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः। सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।। समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः। शीतोष्ण सुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः।, तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्। अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियोः नरः।। प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव। न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ।। उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते। गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ।। समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्ठाश्मकाञ्चनः तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।। मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः। सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ।।'[३] इत्युक्तलक्षणः साधुर्गुरुरुच्यते।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् 'समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' इति श्रुत्युक्तलक्षण एव साधुगुरुः।

अथैवं वाक्यं चतुर्विधम्-मनःप्रधानं, मायाप्रधानं, वेदप्रधानम्, आत्मप्रधानं चेति। तत्र मनसैव शास्त्राणां मतानां कल्पितत्वान्मायाप्रधानम्, प्रकृत्यैव शाक्तवादे सर्वप्रपञ्चस्य कल्पितत्वान्मायाप्रधानम्, वेदेनैव कर्मोपासनात्रिकाण्डकल्पनाद्वेदप्रधानम्, आत्मनैव निर्विकल्पकेवलशान्तस्वरूपप्राप्तिर्भवतीत्यात्मप्रधानं चेति चातुर्विध्यम्।

अत्रास्मिन् ग्रन्थे नानामतवादानां प्रशंसापूर्वकं केवलमात्मस्वरूपबोधनमस्तीतिसर्वबीजभूतोऽयं ग्रन्थो बीजक इत्युच्यते। परमानन्दनिर्विकल्पनिराभासश्रुतिनिश्चितसर्वोत्पत्तिस्थितिलयात्मकसच्चिदानन्दस्वरूपं बीजशब्देनोच्यते। बीजमेव बीजकम्। स्वार्थे कः। अत्र श्रुतिः-'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।' इति। 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्', 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादयः। सजातीयविजातीयस्वगतैतद्भेदत्रयशून्यं बीजम्। यद्वा निरक्षरस्वरशब्दरूपमनेन ग्रन्थेन विचारणे कृते मुमुक्षूणामचिरा शान्तिर्भवति। यत्सर्वगतं बहिरन्तरेकमेव तदहम्, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्युपासनापि कर्तव्येति बोधितमनेन ग्रन्थेनेति सर्वेषामात्मसुखदत्वाच्छ्रेष्ठतमत्वमस्य ग्रन्थस्य। सर्वश्रुति शिरोभागनिश्चितात्मस्वरूपज्ञापनादिदमेव मुमुक्षुभिः सेव्यमिति भावः इति दिक् ।।

---

२. 'श्रेष्ठ' शब्द अतिशय-वाचक है; फिर भी, परमावधि बताने की दृष्टि से 'तम' का प्रयोग किया है।

३. भगवद्गीता, अ. १२, श्लोक १३ आदि।

बोधानन्द की व्याख्या का संक्षिप्त विवरण

(प्रस्तावना)

इस व्याख्या का प्रारम्भ गणेशाभिवादन और गुरु-वन्दना से होता है। इसके बाद व्याख्याकार ने स्वनिर्मित तीन श्लोकों में कबीर की स्तुति की है। पहिले श्लोक में कबीर को शुद्ध ब्रह्म, नित्य मुक्त, चिदानन्दरूप, और अक्षय बताया है। दूसरे श्लोक में उन्हें संसार का आधार और अन्त प्रदर्शित करने के पश्चात्, तीसरे श्लोक में कहा है कि उन्हीं के अनुग्रह से योगी अपने परम स्वरूप को प्राप्त करते हैं। चतुर्थ पद्य में व्याख्याकार का उद्देश्य निहित है। उसमें प्रदर्शित किया है कि उन्हीं महात्मा कबीर की आज्ञा पा कर बोधानन्द द्वारा विज्ञान-बीज का विस्तार यहां किया जाता है।

बोधानन्द ने इन पद्यों की भी व्याख्या की है, जिसमें 'कबिर' और 'कबीर' इन दोनों नामों की सार्थकता बतलाते हुए, उन्हें सृष्टि के प्रवर्तक, श्रुतियों के प्रतिपादक, सर्वव्यापी परमात्मा से अभिन्न माना है, साथ ही यह भी कहा है कि वे गुरु हैं और साधु भी। साधु के लक्षणों के निरूपण में श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के बारहवें अध्याय के दस श्लोक भी इसी प्रसंग में उद्घृत किए गए हैं। प्रस्तावना के अन्त में ग्रन्थ की श्रेष्ठता प्रतिपादन करने के हेतु व्याख्याकार ने कहा है कि केवल सर्वमूल आत्मस्वरूप का बोध उपदिष्ट करने के कारण इस कृति का नाम बीजक है और उसका उद्देश्य यही प्रदर्शित करना है कि परमानन्दस्वरूप, निर्विकल्प, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण सब को शान्ति देने वाला सच्चिदानन्द ब्रह्म ही सृष्टि का बीज है और वेदों के आधार पर उसका प्रतिपादन किया गया है। यही ग्रन्थ की श्रेष्ठता का कारण है।

रमैनी-१[४]

अंतर्ज्योति शब्द एक नारी। हरि ब्रह्मा ताके त्रिपुरारी॥
ते त्रि (तिरि) ये भग लिंग अनंता। तेउ न जाने आदि औ[५] अंता॥
बारवरि एक विधाता कीन्हा। चौदह ठहर पाट[६] सो लीन्हा॥
हरि हर ब्रह्मा महंतो नामु। तिन्हि पुनि तीन बसावल ग्रामु॥
तिन्हि पुनि रचल खंड ब्रह्मण्डा। छव दरसन छयानवे पाखंडा॥
पेटे न काहू वेद पढ़ाया। सुनति कराये तुरुक नहिं आया॥

---

४. सं० बी० ब में पहली और दूसरी रमैनियाँ स्थानान्तरित है, जैसा कि अन्यत्र भी है। सम्पादन के लिए प्रारम्भ में टिप्पणी देखिये।

५. सं० बी० ब०-जानल आदि उ।

६. सं. बी. ब.-पाठ।

नारी मोचित गर्भ प्रसवती[७]। स्वांग धरे बहुते करतूती ॥
तहिया हम तुम एके लोहू। एके प्राण ब्या (विया) पे मोहू ॥
एक हि जनी जना संसारा। कवन ज्ञान ते भये निनारा[८] ॥
भो बालक भग द्वारे आया। भग भोगे के पुरुष कहाया ॥
अविगति की गति काहु न जानी। एक जीभि का[९] कहों बखानी ॥
जो मुख होय जीभि दस लाखा। तो कोइ आय महंतो भाखा ॥

कहहिं कबीर पुकारि के, एले बोये[१०] व्यवहार।
राम नाम जाने बिना, बूड़ि मुआ संसार ॥ १ ॥

अन्तरेति। अन्तरा=ज्योतिः स्वरूपा शब्दरूपा 'स्वासासोऽहं हंसेति (हंसः इति), यद्वा, एका=अजा, अविद्या, प्रकृतिः, माया, ईहा, चेष्टा, इत्यादि नामानि। अन्तः=अन्तःकरणकार्यकारणाज्ञानरूपं ज्योतिः=आत्मा, ब्रह्ममायाविद्ययोर्द्वयोः प्रकाशकः। एकश्चिदात्मा लक्ष्यार्थः। शब्दः=शब्दप्रकाश्यत्वाज्जीवेश्वरौ मायाऽविद्याकल्पितौ शब्दरूपावेव। नारी=प्रकृतिः, तस्या एवाविद्यामायारूपं द्वैविध्यम्। मायोपाधिद्वारैव कवयो ब्रह्मणि जगत्कर्तृत्वादिकलानां चतुर्विंशति-तत्त्वपञ्चकोशगुणत्रयकर्तृभोक्त्रादित्रिपुटीजातजननास्तिभावपरिणामवृद्धचपक्षय विनाशरूपषड्भावक्षुत्पिपासाजन्ममरणशोकमोहरूपषडूर्मिस्वर्गनरकादिप्रपञ्चवर्णनं कुर्वन्ति, स्वपरमानन्दसुखज्ञानाभावादिति भावः। तदूक्तं भगवद्गीतासूपनिषत्सु-'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥' इति। हरीति। मायोपाधिद्वारैव ब्रह्मणो हरि-हर ब्रह्मेति नामभेदरूप-गुणत्रयकल्पनमित्यर्थः। तेषां त्रयाणां किं स्वरूपमित्यत आह-ते त्रिये इति। ते कवयस्त्रियेऽविद्याद्वारा भगादि गायन्ति। तत्र भगः=ऐश्वर्यम्। 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इति स्मृतिः[११]॥' इत्युक्तेः। लिङ्गं=चिह्नं वेदशास्त्रपुराणेषु वैकुण्ठसत्यकैलासयमवरुण चन्द्रलो-कादि चिह्नानि गायन्ति।

कुत इत्याह-तेउ नेति। ते सर्वे कवयः, उ=निश्चये, सृष्टेः पूर्वं ब्रह्म=अहमेव। भूतकाले, अद्य वर्तमानकाले ब्रह्मैवाहम्, अन्तिमे काले ब्रह्मैवाहम्'

---

७. प्रसूती।
८. न्यारा
९. कित।
१०. ई बैली।
११. इस आदर्श में एक मात्रा पृष्ठमात्रा है।

सत्यम् । ईदृशं तत्त्वानुभवं शास्त्रमतवादिनो न जानन्ति । कस्मात् ? इत्थंभूत-ज्ञानाभावादित्यर्थः । सर्वे स्वानुभवनिश्चयमज्ञात्वा नानाविधलोकादिकल्पनामन्-धानुगजनतान्यायेन कुर्वन्तीत्यर्थः । तत्र श्रुतिः-'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वय धीराः पण्डितं मन्यमानाः । जंघन्यमाना परि यन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा' इति । तस्मादज्ञानविलसितमेव कविरचनमित्यभिप्रायः ।

ननु सर्वे कवयो लोके सर्वज्ञाः श्रूयन्ते, ते स्वरूपं कुतो न जानन्तीत्याह-बाखरीति । विधिता=विधयः, कर्माणि, तेषां समूहो विधिता, सात्त्विकराजस-तामसकर्माणि । तैरेकबाखरि=महदज्ञानदुर्गं दुर्गमं रचितम्, यद्दुर्गनिवासिनां बुद्धौ स्वपरमानन्दसुखं ब्रह्माहमिति प्राप्तिर्नास्ति, अज्ञानावरणात् । तत्र श्रुतिः-'कर्मणा पितृलोक' इति, पापेन दुर्गतिमापतेत्, पुण्येन स्वर्गमाप्नुयादिति प्रमाणात् । कर्माण्येव देहोत्पादकानि । तस्मात् स्वात्मज्ञानं विना, चौदह ठहर=चतुर्दश-लोकेषु पाट=राज्यं गृहीतं ते जायन्ते म्रियन्ते च । पुनः पुनश्चतुर्दशाधिकदैविक--चतुर्दशाध्यात्म-चतुर्दशाधिभौतिकरूपे प्रपञ्चेऽज्ञानेनैव भ्रमणं, न तु स्वात्मज्ञा-नोत्तरमिति भावः ।

इदं कथं लोके ज्ञायते इत्यत आह-हरीति । हरिः सत्त्वगुणात्मकः सूर्याद्यु-पासनादेवः, महान्, अनेकैश्वर्यसम्पन्नः, तस्य मनः स्तुतिपूजनोपासनादीनि बाह्ये =परोक्षमेव कुर्वन्ति, नत्वन्तरे । ब्रह्मशब्देन राजसी देवता, यक्षराक्षसादयस्तस्या यजनादिकं कुर्वन्ति । एवं हरशब्देन तामसी भूतप्रेतादयः देवता, तस्या उपासनां कुर्वन्ति । महन्तो नामु=मह् पूजायाम् । पूज्यत्वं तिसृणां गुणात्मकानां देवतानां लोके प्रसिद्धमिति भावः । तदुक्तं भगवद्गीतासूपनिषत्सु-'यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः । प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः' इति । अतः स्वकीयं महत्त्वमज्ञात्वा 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यन्तरे उपासनां न कुर्वन्ति, ईषणाभि-र्विक्षिप्तत्वादिति भावः । अत एव ग्रामु=शरीरत्रयाभिमानाज्जीवत्वमाप्नोती-त्याह-तिन्हीति । 'ब्रह्माहमस्मी'ति-ज्ञानं विना जाग्रदवस्थायां भोगव्यवहारः सत्य इति स्वस्मिन्मन्यते । स्वप्नेऽपि सुखदुखं स्वस्य मन्यते । सुषुप्तौ भोगमज्ञानानन्दं स्वस्य कर्ता, भोक्ता, ज्ञातेति स्थूलसूक्ष्मकारणरूपदेहत्रयाभिमानाज्जीवत्वं प्राप्नोतीति भावः ।

एवं शुद्धस्वरूपज्ञानाभावाज्जीवो नानायोनीः प्राप्नोतीत्याह-तिन्हीति । शुद्धस्वरूपज्ञानेन चैतन्यं द्विविधम् । मायोपाधिकं समष्टयधिपतिरूपमेकम्, अविद्योपाधिकं व्यष्टिरूपं जीवात्मकमेकम् । एवं सति मायोपाधिः स्वयमीश्वरो ब्रह्माण्डपतिः, जीवस्त्वविद्योपाधिखण्डरचनां करोति । स कदाचित्सात्त्विकीर्दैवी-र्योनीर्धारयति, क्वचिन्मानुषी राजसयोनीः, क्वचित्तिर्यग्योनीः तामसीश्च ।

एवं पुनः पुनश्चतुरशीतिलक्षरचनां स्वरूपाज्ञानेनैव करोति वाण्या। अत एव ब्रह्माहमिति स्वस्यात्मत्वं त्यक्त्वा नानामताभिमानं करोतीत्याह-छवंदरसनेति। ब्राह्मणोऽहं, क्षत्रियोऽहं, वैश्योऽहं, शूद्रोऽहमन्त्यजोऽहं चाण्डालोऽहमिति षड्दर्शनानि। यद्वा कापालिक-जंगम-ब्राह्मण-सन्यासी-सूफेतिमतभेदात्[१२] षड्दर्शनानि, यद्वा षट् शास्त्राण्येव दर्शनानि। दृश्यते व्यवहारो यैस्तानि दर्शनानि, यथेन्द्रस्य पृथुराज्ञो यज्ञीयाश्वहरणसमये कृतानि षण्णवतिपाखण्डानि। केशलुञ्चननग्नरक्तपटादीन्यविद्यारूपाणि हिंसानरकसाधनानि लोकेऽभिमन्यन्ते, अत एव नरके निपतन्ति।

ननु कर्म वेदेनैवोक्तम्, अतस्तत्करणे का हानिरित्यत आह-पेटे इति। स जीवो मातुरुदरस्थ एव गर्भान्धकूपान्निर्जिगमिषुः 'अच्युतोऽहमनन्तोऽहमित्यादि बहुभिः प्रकारैर्ब्रह्मणः स्तुतिं करोति। तदा तु कर्मलेशोऽपि तस्य वेदे न कथितः। पश्चाद्बहिरागतस्य स्वरूपमजानतः सन्ध्यार्चनादिकं वेदेन बोध्यते; तेनैव विक्षिप्तमतिः स्वस्य पाण्डित्यं मत्वा, ब्रह्माहमिति स्वानुभवं विस्मृत्य मृगतृष्णा प्रायेऽज्ञाने पततीत्यर्थः। एवं जडस्य देहस्याभिमानं मत्वा स्वस्य यवनतद्भिन्नादिजातिं कल्पयतीत्याह-सूनतीति। पञ्चभूतात्मकेषु सर्वेष्वेव रूपेषु देहेषु सत्स्वपि शिश्नेन्द्रियाग्रस्थं चर्म छित्वा यवनोऽहमिति मन्यते। एवं तदभावे तद्भिन्न इत्यविद्यावशान्मन्यते इति भावः।

ननु तर्हि ब्रह्माहमित्यस्यानुभवः कथं स्यादित्यत्राह-नारीति। नारी= अविद्या, तस्या गर्भास्त्रयः, स्थूलसूक्ष्मकारणाख्या देहाः। तानेव प्रसवती= उत्पत्तिमूलम्। ईश्वविधानविद्याकल्पितान्देहान् मोचित=विमुच्य तदभिमानं सन्त्यज्य ब्रह्माहमिति भवति। तत्र श्रुतिः—"मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण विद्वान्" इति। तस्माद्युक्त्यैव जानीयादिति भावः।

ननु तर्हि चैतन्यं ब्रह्मादिषु पृथक् कथं दृश्यते, तत्राह-स्वांगेति। स्वस्याङ्गं-स्वाङ्गम्। स्वस्वरूपं चैतन्यमेव चतुरशीतिलक्षदेहेषु प्रविश्य, तेषु भिन्नं भिन्नं मत्वा तद्भवतीत्यर्थः। बहुते करतूती=इदमेवैकस्य विपुलीकरणमिति भावः। यद्वा, स्वस्वरूपं सन्त्यज्य, स्वाङ्गम्=अनेकवेषान्तत्सम्पाद्यानि कर्माणि, करतूती= कृत्वा, अहं कर्ता, अहं ज्ञातास्मीति वदन्ति। तेषां निजात्मज्ञानहीनानां श्रुतिरूपेणात्मज्ञानं ददामीति भावः।

ननु जीवात्मनोरेकत्वमिदानीन्तनं किमनादिसिद्धमुच्यते, तत्राह—तहियेति। तहिया=तदैव, सृष्टेः पूर्वमेव, हम तुम एके=अहं त्वं नैकमेव[१३] चित्स्वरूपम्;

१२. यहाँ संख्या पाँच ही है।

१३. प० त्वैकमेव।

एवं सति कर्मणा निमित्तभूतेन लोहु=शुक्ररक्तयोर्ग्रहणम्; पितुः शुक्रं मातुः रुधिरम्; तत्संयोगे चिदाभासः पतितः। तदा स्थूलशरीरेऽन्नमये कोशे चिदाभासो नियोजितः; तत्रापि त्वमहं चैकरूप-एव। ततोऽपि एके प्राण=प्राणमये सूक्ष्मकोशे नियोजितस्त्वमहं चैकरूप एव। अतः कर्मणा निमित्तभूतेनान्नमयादिकोशेषु मायया प्रवेशेऽपि वस्तुतः प्रवेशाभावे जीवब्रह्मणोरैकत्वमनादिसिद्धमेवेत्यभिप्रायः। तत्र श्रुतिः—'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' इत्यादिकृत्य 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठे' त्यन्तेन ग्रन्थेन व्याख्यातत्वादिति भावः।

नन्वेवं विश्वसर्जनं किंद्वारा भवतीत्यत्राह—एक हीति। जनी=जनयित्री, कारणाविद्या; सा एका; तयैव संसारः=स्थूलसूक्ष्मकारणजाग्रत्स्वप्नसुषुप्ति-विश्वतैजसप्राज्ञेत्यादिप्रपञ्चः, जना=निर्मितः। संसारे द्वैतं मायैव वाङ्मात्रं जनयतीति भावः। 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजा जनयन्तीं सरूपाः'।

ननु तर्हि मायाया भिन्नत्वं कथं स्यादित्यत्राह-कवनेति। ज्ञान ते=शुद्ध-चित्तात्माहम्, मयि नानात्वं नास्त्येवेत्यखण्डानुभवेनाभिन्नत्वं जानीयादिति भावः। तत्र श्रुतिः—'वेदैरनेकैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्। न पुण्यपापे मयि नास्ति नाशो न जन्मदेहेन्द्रियबुद्धिरस्ति॥ न भूमिरापो मम वह्निरस्ति न चानिलो मेऽस्ति न चाम्बरं च'। इति रामगीतासूपनिषत्स्वपि; 'प्रकाशरूपोऽहमजोऽहमद्वयः सकृद्विभातोऽहमतीव निर्मलः' इत्यादि। तस्मात्स्वरूपविचारेणैव मायाऽविद्ययोः परं भवेदित्यर्थः।[१४]

अत एव वासनावशान्मूढो भवतीत्याह—भो बालकेति। भग=ऐश्वर्यम्;[१५] तदर्थं स्वर्गाद्यर्थं शुद्धात्मापि कर्मकाण्डरूपवेदद्वारा वासनाबद्धो भूत्वा कर्मणा लिप्यते; तेनैव कर्मलेपेन स्वचिदानन्दं विस्मृत्य, बालको=बालिशो मूढोऽज्ञानेन संसरतीत्यर्थः। तदुक्तं भगवद्गीतासूपनिषत्सु—'यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः। वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्। क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति। भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्। व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥' इति। अत एवेदं महच्चित्रमित्याह-भोगेति। 'कहां' इति वितर्के। पुरुषः=पूर्णोऽपि, भाग भोगे के=ऐश्वर्यसेवनार्थम्, आया=आगतः। सार्वभौमोऽहं भवामि, इन्द्रादिपद-स्वाम्यहं भवामीत्यादिवासनया त्रिगुणमययोनिष्वनुसरतीति भावः।

---

१४. =माया और अविद्या का रूप विचार कर उससे स्व-रूप (अपने) को पृथक् समझना श्रेयस्कर है। यहाँ भाषा कुछ अस्पष्ट है।

१५. सं० बी० ब० में अर्थान्तर भी दिया है।

अविगतीति ग्रन्थेन मायास्वरूपं दुर्ज्ञयमित्याह । अविगति की=अव्याकृतस्य मायाया गतिः=स्वरूपम्-'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इति वर्णनरूपम् । काहू=कश्चित्परमहंसः, तेन जानी= ज्ञातम्, अन्यैः न जानी=न ज्ञातम् । ब्रह्माहमित्यखण्डावृत्तिर्महाप्रबलज्ञानवान् यस्तेनैव विष्णुरूपेण ज्ञातुं शक्या मायागतिर्नान्यैनेति भावः । तत्र भगवद्गीतोपनिषद्—'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया । मामेव ये प्रपद्यन्ते मम मायां तरन्ति ते ॥'

ननु स्वसुखं कथमनुभूयते इत्यत्राह—एकेति । वाण्यप्रवृत्तेरिति भावः । तत्र श्रुतिः—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति । जो मुखेति । यदि कस्यचिन्मुखे दशलक्षजिह्वाः सन्ति, तथापि निरिन्द्रियस्य महतः स्वानन्दं मुखस्य वर्णनं कर्तुं न समर्थो भवतीत्यर्थः—'शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्यम्' इति श्रीमद्भागवते नारदं प्रति ब्रह्मोक्तेः ।

ननु तर्हि कस्यापि निश्चयाभावात्सत्यमिति कथं मन्तव्यं तत्राह कहहीति । कः=वेदः, कैवल्योपनिषद्; वी=विज्ञानम्; तस्य सुखस्य निश्चयम्; रः-रं=वह्निबीजं ज्योतिःस्वरूपं यद्वस्तु, तन्निश्चयं करोतीति भावः । अत एव वेदाः ब्रह्मादीनामितरेषां व्यवहाररूपमसत्सुखं 'नेति नेति' इति निराकुर्वन्ति । कथमित्यत आह । रामः=स्वपरमानन्द सुखं; 'रमन्ते योगिनो यत्र सदानन्दे चिदात्मनि । इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते' इत्युक्तलक्षणं ब्रह्माहमिति निश्चयं विना, सर्वे-इन्द्रादयो-विषयभोगवासनयाऽविद्याभवाज्ञानान्धकारमहासमुद्रे जन्ममरणप्रवाहरूपे निमग्ना=अत्यन्ताज्ञानग्रस्ताः कदापि नोर्ध्वं यान्तीति भावः । "नवतरमन्त्यहोऽसदुपासनया भ्रमत्युरुभये कुशरीरभृत्" इति श्रीमद्भागवते श्रुत्यर्थं सारोक्तेः ॥ १ ॥

अन्तःकरण में व्याप्त चिदात्मा, जीव और ईश्वर को माया से आच्छादित करके किसी कार्य को करने में प्रवृत्त करता है । माया के अन्य नाम अविद्या, अजा, ईहा और और चेष्टा भी हैं । इस मायोपाधि के कारण; कविगण भी संसार की उत्पत्ति, पालन और संहार तथा उसके प्रपंच ब्रह्म में लीन होने का वर्णन करते हैं, क्योंकि वे परमानन्द की अनुभूति से वंचित रहते हैं । माया के कारण ही ब्रह्म, विष्णु और हर के नाम, रूप और कार्य की कल्पना अनन्त ऐश्वर्यशाली वैकुण्ठ, सत्य, कैलास, एवं यम, वरुण, चन्द्र आदि के लोकों की समृद्धि का वर्णन भी किया जाता है ।

विधाता ने एक ऐसे अज्ञान-दुर्ग की रचना की है कि उसमें भ्रमण करता हुआ प्राणी अपना वास्तविक रूप भूलकर, सात्त्विक, राजस और तामस प्रक्रिया से ब्रह्म, विष्णु और शिव की पूजा करता रहता है । इस प्रकार शुद्ध चैतन्य माया और अविद्या की

उपाधि से वेष्टित होकर वह ईश्वर और जीव का रूप धारण करता है और सात्त्विक, मानुषी तथा पक्षियोनियों में प्रवेश करता है, तथा अपने असली स्वरूप से अनभिज्ञ होने के कारण विविध मत-मतान्तर और षट्दर्शन (कापालिक, जंगम, ब्राह्मण, सन्यासी, सूफी आदि, अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज और चाण्डाल) आदि के फेर में पड़ जाता है। इस प्रकार जीव गर्भ से बाहर पड़ते ही अज्ञान में भटकता है और यह सब अविद्या का ही प्रभाव है कि वह स्वयंके लिए यवन तथा उससे भिन्न होने की कल्पना भी कर लेता है। जन्म लेने पर वह भूल जाता है कि जीवों का मूल स्रोत एक ही है। भटकता हुआ जीव वासना से मोहित हो जाता है। इन अविद्यान्धकार से ग्रस्त जीवों में अविगति (माया) की गति कोई जानता है, कोई जान नहीं पाता। इन्द्र आदि देव भी इस प्रकार अज्ञान से आवृत होकर भ्रमण करते रहते हैं। वस्तुतः जैसा कबीर कहते हैं, मोक्ष पर-ब्रह्म पद प्राप्ति ही है। उसी को राम या सच्चिदानन्द कहते हैं।

रमैनी-२

जीव रूप एक अंतरवासा। अन्तर्ज्योति कीन्ह प्रकासा॥
इच्छा रूप नारी अवतरी। तासु नाम गायत्री धरी॥
तिहि नारी को पुत्र तिन भयेऊ।[1] ब्रह्मा विष्णु महेश्वर कहेऊ[2]॥
फेरि ब्रह्मा पूछे[3] महंतारी। के तोर पुरुष केकरि तू नारी॥
हम तुम तुम हम और न कोई। तूहई पुरुष हमहिं तोर जोई॥
बाप पूत को एके नारी। एके माय विआय।
ऐसा पूत सपूत न देषो(खा)। जो बापहिं चीन्हे धाय॥ २॥[4]

जीवेति। अन्तर=अन्तःकरणे अविद्याकारणाज्ञानरूपे, एकं=चैतन्यं तस्य भासो जीवरूपो भूत्वा, वासा=सर्वदेहेषु वसति। अन्तरिति=तस्मिन्ननन्त-श्चैतन्यं प्रविश्य स्वप्रकाशेन तं प्रकाशरूपं करोति, तद्भवतीत्यर्थः। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इति श्रुतेः। इच्छेति। चिदन्तःकरणसंयोगादिच्छारूपा यद्वा श्वासारूपा नारी अवतरी=उत्पन्नाभूत्। 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रि-

---

१. भाऊ (सं० बी० ब०)।
२. नाऊं।
३. पूछल।
४. यहाँ संख्या के बाद 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' लिखा है। इसी प्रकार, सारी पोथी में कहीं बीच में और कहीं अन्त में 'श्रीरामाय नमः' श्री गुरवे नमः आदि ऐसे ही शब्द पाए जाते हैं। उन्हें पाठ में छोड़ दिया गया है। टिप्पणी भी सर्वत्र नहीं दी है।

याणि च' इति श्रुतेः। स श्वासः सर्वदेहेषु 'सोहमि'ति जपति। अतस्तस्याजपा गायत्रीति नाम प्रसिद्धम्। सैव सर्ववेदशास्त्राणां बीजरूपा भवति।

तिहीति। तस्याः श्वासरूपाया नार्यास्त्रयः पुनः पुत्राः सात्त्विकराजसतामसाहङ्काररूपा भवन्ति। तत्र समष्टिपक्षे शुद्धाहङ्कारास्त्रयः शुद्धश्वासाद्भवन्ति, मलिनान्मलिनाहङ्कारा इति विशेषः।

ब्रह्मेति। तत्र रजोगुणस्य नाम ब्रह्मेति; सत्त्वगुणस्य विष्णुरिति; तमोगुणस्य महेश्वर इति। फेरीति। ब्रह्मा-बुद्धिः 'सोऽहमिति' निश्चयं करोति। ज्ञानी-मुनिः पूछे=पृच्छति, किमित्याह—के तोरेति। बुद्धिरेवं विचारं करोति-कस्य पुरुषस्याधारात्सोहं शब्दो भवति, अस्य साक्षी कः स्यादिति।

हम तुमेति! सोऽहं तदहं, यदहं तत्त्वम्। अहमेकोऽस्मि चिदात्मा नान्योऽस्ति, सोऽहं हंसेति श्वासो जपति सर्वदा। हम ही=अन्तःकरणे बुद्धिः, तुह ही=पुरुषः पूर्णः सर्वतः। तोर जोई=ब्रह्माहमस्मीति ज्ञानैक्यता[५] बोधितेत्यर्थः। बापेति। बाप=पिता शुद्धचैतन्यं; पूत=अन्तःकरणे चिदाभासात्मा। एके माय जीवेश्वरयोरुत्पत्तिकारणं माया एकैव। 'अहं ब्रह्मास्मी'त्यभ्यासेन पूत=पवित्रो भवति। जीवत्वनाशाय ब्रह्म भवितुं ब्रह्माहमस्मीति ज्ञानं विना, ऐसा=अन्योपायं न पश्यामि यतोऽनेन निर्विकल्पो भवेदिति भावः।

अविद्या-मूल अन्तःकरण में भी चैतन्य विद्यमान है। वही जीव रूप होकर सब देहों में वास करता है। चैतन्य और अन्तःकरण के इस संयोग से इच्छा रूप नारी का अवतार हुआ; यही गायत्री कहलाती है और वही सब वेदों और शास्त्रों के मूल में है। इस नारी के तीन पुत्र हैं—सात्त्विक, राजस और तामस अहंकार। उनके नाम क्रमशः विष्णु, ब्रह्मा, महेश्वर हैं।

ज्ञानी व्यक्ति को यह भास हो जाता है कि वह शुद्ध चैतन्य स्वरूप ही है, अन्य नहीं। वह यह भी समझ लेता है वह अद्वितीय है, चिदात्मा है, इस से अतिरिक्त नहीं। अन्तःकरण-बुद्धि और पूर्ण पुरुष सर्वत्र व्याप्त हैं, और 'अहं ब्रह्मास्मि' इस उक्ति के रहस्य को पूर्ण अनुभव द्वारा वह जान लेता है कि इन दोनों चैतन्यों की नारी एक ही है। अतः जीव और ईश्वर इन दोनों की उत्पत्ति का कारण माया ही है। यह समझने पर वह यह भी जान लेता है कि जीवत्व के अन्त के लिए "अहं ब्रह्मास्मि" इस बोध के अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं है। वस्तुतः निर्विकल्प होना ही सर्वश्रेष्ठ है।

रमैनी-३

प्रथमारंभ कवन[६] के भाऊ। दोसर[७] प्रकट कोन्ह सो ठाऊ॥
प्रकटे ब्रह्मा विष्णु शिव शक्ति। प्रथमहिं भक्ति कोन्ह जीव उक्ति॥

---

५. ऐक्यम्।
६. कौन।
७. दूसर।

प्रकटे पवन पाणी अब छाया[1] । बहु विस्तार के प्रकटी माया ॥
प्रकटे अंड पिंड ब्रह्मांडा । पृथिवी प्रकट कीन्ह नव खंडा ॥
प्रकटे सिद्ध साधक सन्यासी[2] । ई सब लागि रहल[3] अविनासी ॥
प्रकटे सुर नर मुनि सर्व[4] झारी । तोही खोजि परे सर्व[4] हारी ॥

जीव शिव सर्व[4] प्रकटे, वे ठाकुर सर्व दास ।
कबिर अवर न जाने,[5] राम नाम की आस ॥ ३ ॥

प्रथमेति । प्रथम-शब्देन शुद्धं चैतन्यमक्षररूपं, भाऊ=भावः, सत्ता । चैतन्यसत्तयेव सर्वः प्रपञ्चविस्तार इत्यर्थः । तच्चैतन्यमेव मायारूपं भूत्वा विश्वस्याधाररूपं भवति । अस्य श्वासत एव पिण्डब्रह्माण्डोत्पत्तिः । विराट्-महाविष्णोर्नाभेर्महान्=ब्रह्मा भवति । एवं चादिमनुष्यसृष्टिः शाश्वत एव । सत्त्वांशो विष्णुः, रजोंशो ब्रह्मा, तमोंशो रुद्र, इति इच्छाशक्तिः क्रियाशक्तिर्ज्ञानशक्तिरिति त्रयं श्वासद्वारैवाभूत् ।

उक्तीति । वेदमुखेनैवानुमानं कृत्वा स्वस्य जीवत्वं मत्वा जीवत्वमुक्तये जीवेभ्यो भक्तिमार्गः पुरुषसेवारूप उपदिष्टो; वायुजलमित्यादिभिरनेकप्रकारैर्मायाया वाणीद्वारा कल्पितम्-ई सब लागि रहलेति । इमे सर्वेऽविनाशिनोऽपि वाणीद्वारा नाशवन्तोजाताः । वस्तुतश्चिद्रूपा एव सुराः, नराः, मुनयः—एतानि सर्वाणि[6] प्रकटीभवन्ति । तोहि खोजेति । 'तत्त्वमसी'ति विमृश्य सर्वे मूकवन्निवृत्ता भवन्ति, 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति श्रुति प्रामाण्यात् । तथा जीवः शिवश्च वाणीद्वारैव सम्भूताः परमेश्वरं मत्वा स्वयं दासा भवन्ति । अयं भावः—ब्रह्मणो यत्किञ्चिद् भवति तत्सर्वं ब्रह्मैव । स्वानुभवनिश्चयं विना परोक्षवादिनो ब्रह्मणि नामानि रूपाणि वाग्द्वारा बलात्कल्पयन्ति, तस्मात्कनककुण्डलवल्लोहायुधवदग्निविस्फुलिङ्गवत्समुद्रतरङ्गवद्रविकिरणवत् सर्वं वाणीकल्पितं नामरूपयुतं वस्तुमात्रं ब्रह्मणो भिन्नं नास्तीत्यभिप्रायः तत्र श्रुतिः—'वह्नेश्च यद्वत्खलु विस्फुलिङ्गाः सूर्यान्मयूखाश्च तथैव तस्य । प्राणादयो वै पुनरेव तस्मादत्युच्चरन्तीह यथा क्रमेण' इति । तस्मात्

---

१. प्रकटे पौन पानि औ छाया ।
२. संन्यायी ।
३. ये...रहे...।
४. सब ।
५. और जाने नहीं ।
६. इस वाक्य में लिङ्ग भेद खटकता है । 'एते सर्वे' चाहिए ।

कवीराः=स्वात्मज्ञानयुक्ताः एकमद्वितीयं रामनामैव वयं स्मराम इति स्वान्तरे निश्चयं कुर्वन्ति, यतो नामैव सुखदायकं लोके नाम्नैव सर्वे सिद्धि गताः परमार्थ-वादिनो भक्त्या, इति नामनिश्चयं कुर्वन्तीति भावः ।। ३ ।।

इस प्रकार शुद्ध चैतन्य ही सृष्टि का कारण है वही शुद्ध चैतन्य मायारूप होकर विश्व का आधार बनता है और उसी के श्वास से आदि-सृष्टि का निर्माण होता है। इच्छा, क्रिया और ज्ञान इन तीनों शक्तियों के रूप में ब्रह्मा, विष्णु और शिव उत्पन्न होते हैं। सुर, नर, मुनि आदि की सृष्टि का यही प्रकार है। वस्तुतः वे भी चिद्रूप ही हैं। परब्रह्म से उत्पन्न (आविर्भूत) वस्तुतः सब कुछ ब्रह्म रूप ही है, जैसे कनक और कुण्डल, लौह और उससे बने आयुध, अग्नि और स्फुलिंग, समुद्र और तरंग, सूर्य और किरण आदि। ये परस्पर अभिन्न ही हैं। केवल वाणी से इन्हें एक दूसरे से पृथक् कहा जाता है। अतः राम का नाम ही सुख और सिद्धि का दायक है और भक्तिपूर्वक राम-नाम का स्मरण ही परमार्थ-प्राप्ति का साधक है।

(कनक-कुण्डल आदि के उदाहरण से व्यंजना द्वारा यहां विवर्तवाद का निरूपण किया गया है, साथ ही भक्ति का भी। यही रामानुज सम्प्रदाय का विशिष्टाद्वैत है।)

रमैनी-४

प्रथम चरण गुरु कीन्ह विचारा। कर्ता गावे सृजन[1] हारा ।।
कर्म (हिं) करि करि जग बौराया। शक्ति भक्ति के बाँधिन्हि माया ।।
अदबुद रूप जात के बानी। उपजो प्रीति रमैनो ठानी ।।
गुणियन्हि[2] गुणी अर्थ नहिं आया। बहुतक जने चीन्हि नहिं पाया ।।
जो चीन्हे ताको[3] निर्मल अंगा। अन चीन्हे नल[4] भये पतंगा ।।
चीन्हि चीन्हि का गावहु (बौरे),[5] वाणी परी न चीन्हि।
आदि अंत औत्पति परले,[6] आपु हि कहि कहि[7] दीन्ह ।। ४ ।।

नन्वेवं सर्वेषामात्मज्ञानं कस्मान्न भवति तत्राह-प्रथमेति। जनाः 'ब्रह्माह-मिति स्वस्वरूपं विस्मृत्य प्रथम आदिनारायणः वैकुण्ठवासी महानिति विचारं

१. सिरजनहारा।
२. गुणि अनगुणी।
३. तिहि।
४. इस पोथी में सर्वत्र नर के स्थान पर नल लिखा है।
५. का गावहूं। छन्द के मान से 'बौरे' शब्द अधिक है।
६. उत्पति प्रलय।
७. कै कै।

कुर्वन्ति । कर्तेति-स एव जगत्कर्ता, स एव पालकः, हारा=संहारकोऽपि रुद्रनामकः स एवेति वदन्ति । कर्मेति=एकः कर्मवादी कर्म प्रतिपाद्य लोकं भ्रमयति; शक्तिवादी प्रकृतिं प्रतिपाद्य प्रकृतिद्वारैव सर्वं जातमिति वदति; एको भक्ति वदति । एते मृषामतवादेषु स्वयं बद्धा अन्यानपि बन्धयन्ति । तत्र बन्धनसाधनमाह—अदबुदेति । अनेकछन्दप्रबन्धयुक्तैर्मतप्रतिपादकैर्ग्रन्थैर्वाण्यैव जनान्मोहयन्ति, तत्र श्रोतॄणां यथा यथा रुचिर्भवति तथा तथा रमणीया वाणी प्रतन्यते । रमणीयत्वात्सर्वे बाह्यदृष्टयो मुह्यन्तीति भावः । तेषां मतवादिनां परमार्थशून्यत्वाच्छान्तिर्न भवतीत्याह-गुणीति । मीमांसकाः, वैशेषिकाः, नैयायिकाः, पातञ्जलाः, सांख्याः, वेदान्तिनः, गुणी=स्वस्वपक्षवादे कुशला अपि अन्तरे परमार्थतत्त्वज्ञानाभावात्सुखं न लभन्ते इत्यर्थः । बहुतक जनैः=पौराणिकशाब्दिकनास्तिकादिभिः स्वात्मनिश्चयो न प्राप्यत इत्यर्थः ।

जो चीन्हे इति । यः स्वात्मतत्त्वं जानाति स एव निर्मलः=मायारहितःन स्वसुखं लभते । अनचीन्हेति । नल=नरः, यो न जानाति स परमानन्दं प्राप्नोति । कुत इत्यत आह-पतङ्गेति । अग्नौ पतङ्गवत् स्त्र्यादिसुखे शृङ्गाररसिकाः पतन्ति ।

चीन्हीति । भो बौरे=अज्ञानिनः केवलं शास्त्रज्ञाः स्वात्मगतं विविच्य वर्ण्यतां, यस्मिन्नुत्पत्तिनाशादिकं वर्ण्यते, तदेव तत्त्वं यूयं न विदाथः, अतः शास्त्रश्रमो व्यर्थ इति । तदुक्तं श्रीमद्भागवते—'तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनामि'त्युक्तेरिति भावः ॥ ६ ॥

संसार-भ्रमण ही व्यक्तियों को आत्म-ज्ञान से दूर ले जाता है । वे अपने ब्रह्म-स्वरूप को भूलकर, वैकुण्ठवासी नारायण को सर्वमहान् एवं संसार की उत्पत्ति, स्थिति और संहार का कारण मानकर उनकी पूजा-अर्चना करते हैं । कोई, कर्म, भक्ति, शक्ति प्रकृति और ज्ञानशून्य षट्शास्त्रवादियों द्वारा प्रवर्तित मतों के फेर में पड़ कर तथा उनकी युक्तिपूर्ण उक्तियों से मोहित होकर स्त्री सुख-प्राप्ति की लालसा से अग्नि में स्फुलिङ्ग भी बन जाते हैं । इस प्रकार आत्मज्ञान का अभाव ही संसार में भ्रमण का कारण है ।

रमैनी-५

कहाँ ले कहौं जुगन[1] की बाता । भूला ब्रह्म न चीन्हें बाटा ॥
हरि हर ब्रह्मा के मन भाई । वि-वि अक्षर ले जुक्ति[2] बनाई ॥

---

१. युगन ।
२. युक्ति ।

बि-वि अक्षर का कीन्ह बधाना । अनहद शब्द ज्योति प्रमाणा ॥
अक्षर पढ़ि गुनि राह चलाई । सनक सनन्दन के मन भाई ॥
वेद कितेब कीन्ह विस्तारा । फैलि गेल मन अगम अपारा ॥
बहु जुग भक्तनि बांधल वाटी । समुझिन परल मोठरी[1] फाटी ॥
भे भे पृथिवी दहो[2] दिशि धावे । स्थिर होइ न औषधि पावे ॥
होय भिस्त जो चित न डोलावे । खसम हि छोड़ि दो जख के[3] धावे ॥
पूरब दिशा हंस गति होई । है समीप संधि बूझे कोई ॥
भक्ताभक्ती[4] कीन्ह सिंगारा । बूड़ि गेल सर्व माझे[5] धारा ॥

बिनु गुरु ज्ञान द्वंद्व भई, खसम कही मिलि बात ।
जुग जुग सोई कहवैया । काहु न मानी बात ॥ ५ ॥

कहाँ ले इति । अनन्तयुगानां वार्ता: कति कालं वदामि ? स्वात्म-सुखं विना सर्वाणि युगानि व्यतीतानीत्यर्थः । इदमपि चित्रमित्याह । ब्रह्म-ब्रह्मरूप एवासौ जीवः स्वानुभवं विस्मृत्य, वाट=चिदहमिति शुद्धमार्गं न जानाति, देहोऽहमित्य-विद्यावशात् । हरीति । स्वयमेव हरिहरब्रह्मात्मकः सन् परोक्षं हरिहरब्रह्माणो मत्वा ध्यायति ।

ननु केचित् 'सोऽहं' शब्दं ध्यायन्ति, ते स्वरूपं किं न जानन्तीत्यत आह-विवीति । 'वि-वि' अक्षरद्वयं सोऽहमित्येव ब्रह्म मत्वा उपासते । आत्मानं विस्मृत्या-नेकग्रन्थैः प्राण एवात्मेति प्रतिपाद्यते । तस्यैवाक्षरद्वयस्य निश्चयं कृत्वा तस्मि-न्नेव प्रतिबध्यन्ते । तदेवाह-अनहदेति । अहं शुद्धचैतन्यमिति विस्मृत्य, असौ प्राणशब्द एव ब्रह्मेति वदन्ति, न त्वनुभवसाक्षात् । इदमेव ज्योतिः सर्वेन्द्रिय प्रवर्तकमिति प्रमाणं कुर्वन्तीत्यर्थः ।

अक्षरेति । अन्यः कश्चिदक्षरमेव ब्रह्म मत्वा, स्वानुभवं विस्मृत्य, आधार-चक्रे प्रकृतिचिद्योगात् परा वागव्यक्तरूपा भवति, तथैव मणिपूरके पश्यन्ती वागजवाख्या, हृद्यनाहतचक्रे मध्यमा वाक् ध्वनिरूपा, कण्ठे विशुद्धिचक्रे प्रण-वादिवर्णात्मिका वैखरी वाणी, इति विचार्य परम्परासम्प्रदायं प्रवर्तयति ।

---

१. मोटरी ।
२. भय भय पृथिवी दहुं ।
३. को ।
४. भक्तिन ।
५. सब मांझहि ।

सनकेति । सनकादयोऽप्येवमेव विचारयन्तीत्यर्थः । वेदेषु यवनग्रन्थेषु 'कितेब' संज्ञेष्वेवमेव वैखरी वाणी प्रसृता यत्रात्मस्वरूपं प्रमाणं नास्तीत्यर्थः । फैलीति । तद्वाणीद्वारैव कुतर्कवादिनः स्वरूपं विस्मृत्य नानायोनिषु प्रसृता इत्यर्थः । चहुं इति । चतुर्युगेषु भक्तैर्वाग्द्वारैर्वा ज्ञानार्थं ज्ञानमार्गः प्रवर्तितः । सर्वेऽपि प्राणविचारभक्तिमार्गादयो लोके इत्यर्थः ,

ननु कर्मिणां ज्ञानं किं न स्यादत आह—समुझीति । भ्रान्तचित्तानां चित्ते आत्मज्ञानं न स्थीयते; अतो मोठरी=अविद्या न छिद्यते । अतः भे भे इति । अतलादि पुनः भूरादयो नाशवन्तश्च दशदिग्पालादिलोकेषु पृथिव्यां च भ्रमन्ति । वैराग्यं विना ब्रह्मानन्दं स्थिरं पदं न लभन्ते[1] । सद्गुरुं शब्दं विना भवौषधिर्न प्राप्यते । यस्य चित्तं निर्वासनं स एव विमुक्तो, नान्यः इत्यर्थः ।

भिस्त इति मुक्तिनाम । तत्र श्रुतिः—'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भूत्वा परं ब्रह्म समश्नुते' । खसमेति । खम्=आकाशः तत्तुल्यो लेपरहित आत्मा, 'सर्वमिदं ब्रह्मैवेति' विचारं विहाय, देहाभिमानं मत्वा, दोजकः=यवन भाषया नरकः तद्युतयोन्यर्थं (?) धावति, तदर्थं कर्म करोतीत्यर्थः । 'तदर्थं कुरुते कर्म यद्बद्धो यात्यधस्तमः' इति श्रीमद्भागवते देवहूतिं प्रति कपिलोक्ते रिति भावः ।

पूर्वेति । पूर्वा=प्रथमा दिक्; तस्यां हंसः=सूर्यो यथा प्रकाशकः, तद्वदन्तश्चैतन्यानन्दः स्वतः प्रकाशको गतिज्ञानस्वरूपः । अहमेवात्मेति विचार्यात्मस्वरूपः स्यादत्र संशयो नास्तीत्यर्थः । यथा मनुष्योऽहं तथा ब्रह्माहमिति । सन्धिः= सम्यग्धीयते, स्थाप्यतेऽस्यामिति सन्धिः बुद्धिः; समीपं=निकटमेवास्ति, तथापि कश्चित्परमहंसो विविदिषा[2], यद्वा विद्वत्संन्यासिनश्चैवं जानन्तीत्यर्थः ।

भक्ताभक्तीति । अज्ञानां मन एव भक्ता, संकल्पविकल्पाभ्यां भज्यमानत्वात् । भज्यमानचित्तैर्मूढैः, भक्तोः=अनेक विभागयुक्ताः हिंसाप्रायाः विधिहीनाः क्रतवः क्रियन्ते, यतो ब्रह्म सुखाद्विक्षिप्तमतयोऽतस्तानि कर्माणि जीवहिंसामयानि, [सिं] गारा[3]=नरकादीनि कर्दम प्रायाण्येव कर्माणीति भावः । तस्मिन् दुष्कर्मरूपे कर्मणि सर्वे निमग्ना इत्यर्थः ।

---

१. इसके बाद 'मु' लिखा है, जो या तो अनावश्यक है, या नु=निश्चय के अर्थ में है ।

२. ये चारों अक्षर स्पष्ट हैं, किन्तु इनका अर्थ असंगत है ।

३. इस शब्द का पहला अक्षर लिपिकार ने छोड़ दिया है । रमैनी से उसे यहाँ पूर्ण किया है ।

तर्हितेषामुद्धारः कथं स्यादित्यत आह-बिनु गुर्विति। गुरुर्निजात्मसुखम्, ख=आकाशः तद्वत् समं=सर्वत्रैकरसं वा। सर्वोपनिषदस्तदैक्यार्थं ब्रुवन्ति। तद्ब्रह्मज्ञानं विना द्वन्द्वं सुखदुःखादिकं जोवस्य भवति। जुग जुगेति-युगे युगे वेदास्तदेव वदन्ति। वै-निश्चये; ह-प्रकटम्। सो=तत्, ई=सर्वमिदं ब्रह्माहमस्मि, या(?),[1] इति ब्रह्मविद्यां कश्चिद् बुधो जानाति नेतरे प्राणिनः 'यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः' इति भगवदुक्तेरिति भावः ।। ५ ।।

अनन्तकाल से यह क्रम चला है कि जीव अपने असली चैतन्य रूप को भूलकर हरि, हर और ब्रह्मा को स्वयं से अतिशक्ति वाला मानता है। कोई "सोऽहं" शब्द का ध्यान ही करता है और आत्म-स्वरूप नहीं समझने के कारण प्राण को ही ब्रह्म मान लेता है। कोई-'अ' 'अक्षर' को ही ब्रह्म जान कर वाणी के 'परा, पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी' की परम्परा में पड़ जाता है, यह जानते हुए भी कि वेद और कितेब इन दोनों में केवल वैखरी वाणी का ही प्रसार है। आत्मज्ञान से शून्य होने के कारण इन सबकी अविद्या का उच्छेद नहीं होता और संसार में भ्रमणशील जीव वैराग्य से दूर रह कर स्वर्ग और नरक का विचार करता रहता है। कर्म में प्रवृत्त होने के कारण वह जीव-हिंसा भी करता है। इस सारे झमेले में केवल गुरु ही सच्चा उद्धारक है, जो वेदों और उपनिषदों में निरूपित ब्रह्ममार्ग में प्रवृत्त कर सकता है।

रमैनी-६

बरनहु कवन[2] रूप औ रेखा। दोसर कवन आहि[3] जो देखा।।
ॐकार[4] आदि नहिं बेदा। ताकेर कवन[5] कहहु कुलभेदा।।
नहिं तारागण नहिं रवि चंदा। नहिं कछु होते पिता के बिंदा।।
नहिं जल नहिं स्थल[6] नहिं थिर पवना। को धरे[7] नाम हुकुम को बरना।।
नहिं किछु होते दिवस निज[8] राती। ताकर कवन कहहु[9] कुल जाती।।

---

१. जान पड़ता है कि यहाँ लिपिकार ने एक-दो अक्षर छोड़ दिए हैं।

२. कौन।

३. दूसर कवन आहिं।

४. इस शब्द के पहले एक अतिरिक्त 'औ' है।

५. ताकर कौन।

६. थल।

७. धरु।

८. कछु...औ राती।

९. कहहु कौन।

सून्य सहज मन सुम्रिति,[1] प्रकट भई एक जोति।
ताहि पुरुष कि मे बलिहारी, निरालम्बन जे होति[2] ॥ ६ ॥

वरनेति। ज्ञानी यस्मिन्परमानन्दसुख निमग्नस्तत्सुखं वर्णयितुं कः शक्तः ? कोऽपि नेत्यर्थः। रूपं=स्थूलत्वादि, रेखा=चिह्नम्। तदुभयवर्जितस्यागृहीतत्वादित्यर्थः। 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति श्रुतेः। आत्मनः सुखमात्मैव जानाति, नान्यः, द्वितीयाभावात्। एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मेति श्रुतेः। यस्मिन् ब्रह्मणि स्वानन्दे सुखे वेदमूलमोङ्कारो विलीयते, तत्सुखस्य प्राप्तौ कुलं=तत्त्वसमूहो वर्णाश्रमभेदश्च न भासेते इत्यर्थः। तदेवाह-तारागणचन्द्रादयस्तत्र न भान्तीत्यर्थः। तत्र श्रुतिः—'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति। पिता= शुद्धचैतन्यम्, तस्मिन्नखण्डसुखे बिम्बप्रतिबिम्बभूतौ जीवेशौ स्तः। ऐक्यं प्राप्तावित्यर्थः।

स्वसुखे जलभूमिपर्वतपवनभावना नास्तीत्यर्थः सर्वस्य ब्रह्ममयत्वात्, स्वानन्दसुखेद्वितीयाभावात्। तस्य नाम केन वक्तव्यं, तस्य ज्ञातापि कः, तस्य वर्णः कः ? अतः सर्वं ब्रह्मैवेति भावः। ब्रह्मानन्दे दिनरात्रिकल्पनं व्यर्थमिति भावः। तदुक्त रामहृदये 'नाहो न रात्रिः सवितुर्यथा भवेत्प्रकाशरूपाव्यभिचारतः क्वचित्। ज्ञानं तथाऽज्ञानमिदं द्वयं हरौ रामे कथं स्थास्यति शुद्धचिद्घने' इति। ब्रह्मानन्दे स्थितस्य जातिकुलादिकं किंवक्तव्यमिति भावः।

एवंविधज्ञानिनः का स्थितिरित्यत आह-शून्येति। ज्ञानी त्वन्नाशनपानादिक देहेन्द्रियव्यवहारं करोति तच्छून्यं सहजमेव प्रवर्तते। कुत इत्यत आह स्मृतीति। अनुभवे स्मृतिस्थैर्यात्तस्यैवकं ज्योतिः प्रकाशरूपं वस्तु प्रकट भवति, तस्यैव बली=तमोगुणस्तं हरामीति ब्रह्मणोऽभिप्रायः। यो मामुपास्य निरालम्बो भवति। निर्द्वन्द्वस्यैव गुणातीतत्वं नान्यस्येति भावः ॥ ६ ॥

परमानन्द में निमग्न ज्ञानी की अवस्था अवर्णनीय है। उसे न रूप और रेखा (आकृति) का भास है, वेद-मूल ओंकार भी जिस स्वानन्द में लीन हो जाता है, वहाँ वंश और वर्णाश्रम का भी भेद नहीं रहता। वही शुद्ध चैतन्य का अखण्ड सुख है, और ब्रह्मैक्य हो जाने पर पृथ्वी, पवन आदि की भावना भी नष्ट हो जाती है। वहां न रात होती है, न दिन अशन, पान आदि दिन-चर्या भी शून्य रूप हो जाती है। ज्योतिःस्वरूप हो जाने पर, निरालम्ब, निर्द्वन्द्व और गुणातीत की स्थिति हो जाती है।

---

१. सहज शून्य मन सुमिरते।
२. बलिहारी ता पुरुष की निरालम्ब जो होत।

रमैनी-७

तहिया होत[1] पवन नहिं पानी । तहिया सृष्टि कवने उतपानी ।।
तहिया होत कली नहिं फूला । तहिया होत गर्भ नहिं मूला ।।
तहिया होत विद्या नहिं वेदा । तहिया होत शब्द नहिं स्वादा ।।
तहिया होत पिंड नहिं वासू । नहिं धरधरणी[2] गगन अकासू ।।
तहिया होत गुरू नहिं चेला । गमि अगमि नहिं पंथ दुहेला ।।

अवगति की गति का कहौं, जाके ग्राम न ठाम ।
गु(गू)न बिहूना पेखना, का कहि लीजे नाम ।। ७ ।।

अथैवं ब्रह्मानन्दे सृष्टयुपकरणं नास्ति सृष्टेरेवाभावादित्याशयेनाह तहियेति । यदा स्वसुख-प्राप्तिस्तदा वायुजलादिकं नास्तीति भावः । सृष्टयुत्पत्तिरपि कथं स्यादिति भावः । कली=कुण्ठरूपं मनः फूला=पुष्पवद्विकसिता बुद्धिः, एतदुभयं नास्ति । 'मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः'' इति भगवदुक्तेरिति भावः । तस्मिन् स्वरूपमुखे गर्भ=स्थूलसूक्ष्मकारणाख्या देहाः अविद्योत्पन्नत्वाद्-गर्भरूपा एवेत्यर्थः । तथा मूला=तन्मूलं महाऽज्ञानं तदङ्गशबला माया चैतत्सर्वं नास्तीति भावः । आदित्यवर्णं तमसः परस्तादिति श्रुतेः । तस्मिन्स्वरूपसुखे विद्याश्चतुर्दश लोके प्रसिद्धास्तथा वेदास्त्रिकाण्डमयाश्च न भान्तीत्यर्थः । अनिर्देश्यत्वादिति भावः । शब्दादिविषयस्तत्स्वादश्च स्वरूपानन्दे न भातीत्यर्थः[3] 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथा रस नित्यमगन्धवच्च यत् । अनाद्यनन्तं महता(तः) परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते' इति श्रुतेः । तस्मिन्स्वरूपसुखे पिण्डब्रह्माण्डभासो नास्तीत्यर्थः । तस्मि-स्वसुखे ब्रह्मणि धरणी तद्धारकश्चेति द्वयमपि न । गगनं=घटाकाशमठाकाशभेदोऽपि न, द्वैताभावात् ।

अकासू=आकाश इति यमकमेलनार्थकं पदम् । तस्मिन्स्वानुभवे मार्गामार्गौ ज्ञानाज्ञाने च न भासतः ।

अविगतीति । अविगति=अव्यक्तम्, अदृष्टम्, इन्द्रियातीतम्, यद्ब्रह्म, तद्वचसा वक्तु कथं शक्यम् ? यस्य ग्रामो=माण्डलिकनृपवत्, ठाम—जन्तोरावासाद्यतो नास्ति, सर्वाधारत्वात् । यद्वा ग्रामाः=देहत्रयरूपाः, ठाम=अविद्यारूपं च यस्मिन् लीयते, तस्य किं ग्रामस्थलादिकं ज्ञातव्यम् ? गुणातीतमपि माययेन्द्रजालवद्भवति, तस्य नामापि कथं वक्तु शक्यम् ? अतोऽविद्ययैव कल्पनं न वास्तवम् । वस्तुतस्त ब्रह्मैव सत्यमिति भावः ।

---

१. प्रत्येक स्थल पर 'होते लिखा है ।
२. कदाचित् 'धरणी धर'=पर्वत; अथवा धर धरणी=पृथ्वी
३. पढ़िए-'न भातः'

आत्मसुख की प्राप्ति हो जाने पर न तो पंचतत्त्व का और न सृष्टि का आभास ही होता है। मन और बुद्धि का विलय हो जाने पर, अविद्योत्पन्न स्थूल, सूक्ष्म देह, उनके मूल अज्ञान और माया के साथ नष्ट हो जाते हैं, शब्दादि विषय भी नहीं रहते; न पिण्ड और ब्रह्माण्ड का आभास ही होता है। यही अद्वैत है, इसका वर्णन करना असम्भव है। केवल विद्या से ही उसकी कल्पना मात्र की जा सकती है। वस्तुतः ब्रह्म ही सत्य है।

रमैनी-८

तत्त्वमसि[1] इनके उपदेसा। ई उपनिषद कहहिं सन्देसा।
ई निश्चे इनको[3] बड़ भारी। वाहि के वरन कहहिं[4] अधिकारी॥
परम तत्त्व के निज परमाना। सनकादिक नारद सुख जाना[5]।
याज्ञवल्क्य औ जनक समादा।[6] दत्तात्रेय वोहे[7] रस स्वादा॥
वोहे[8] बसिष्ठ राम मिलि गाई। वोहे[8] कृष्ण उद्धव समुझाई।
वोहे बात जे[9] जनक दिठाई। देहे धरे विदेह कहाई॥

कुलाऽभिमान खोय के, जीवत मुवा न होय।
देखत जो नहि देखिए, अदृष्ट कहावे सोय॥ ८॥

तत्त्वमसीति। तद्ब्रह्म त्वमसि। सामवेदे महावाक्यं सर्वेभ्यः, उप=समीपे, दिश्यते, कथ्यते, बोध्यत इत्यर्थः। ई इति। उपनिषदः सं=सम्यक्, समीचीनं देशं ब्रह्मानन्दसुखं, देहमादिशति, कथयतीत्यर्थ[11]। एषां मुमुक्षूणां ज्ञानिनां चायमेव निश्चयः स्यात्। तदर्थमेवाधिकार्यादिसम्बन्धचतुष्टय-कल्पनम्। तथाहि-वैराग्यविवेक-षट्सम्पत्ति मुमुक्षेति साधनचतुष्टययुक्तोऽधिकारी, तस्मै उपनिषद् व्याख्यां करोतीत्यधिकारी महाविद्यायाः। सोऽहं सम्बन्धो जीवे-

---

१. सी (छन्द के मान से)।
२. कहै।
३. के।
४. कि वर्णप्र करु।
५. शुक माना।
६. औ…सँवादा।
७. वही।
८. वही।
९. लै।
१०. कुल अभिमाना खोय के।
११. 'उपनिषदः' शब्द बहुवचन में है; अतः 'आदिशन्ति कथयन्ति' उचित होता।

श्वरयोरैक्यमेव । तत्र विषयः संसारनिवृत्तिपूर्वकं ब्रह्माहमिति परमानन्दावाप्तिरेव प्रयोजनमिति चतुष्टयम् । ब्रह्माहमिति परमतत्त्वस्य प्रमाणमेतावदेव स्यात् ।

अत्र सदाचारं प्रमाणयति सनकादिकेति । सनकादिभ्यो नारद इदमेव ज्ञातवान् । इदं च 'अधीहि भगव इति होपससार सनत्कुमार नारदः' इत्यादि ग्रन्थेन छान्दोग्ये स्पष्टम् । याज्ञवल्क्यजनकयोरेवमेव संवादः, अभूदिति शेषः । दत्तात्रेयेणाप्येवमेव स्वानुभवास्वादो गृहीत इत्यर्थः । बृहद्वासिष्ठेऽपि श्रीरामेण सह, ऊहेति, बात=तत्त्वमसीतिपूर्वकमिदमेव गीतमित्यर्थः । इदमेव भगवता श्रीकृष्णेन श्रीमद्भागवतैकादशस्कन्धे बोधितमुद्धवमित्यर्थः ।

एवं जीवन्मुक्तत्वं कथं प्राप्यते तत्राह । कुलाभिमानेति । परम्परागता ये कुलवर्णजात्याश्रमाभिमानास्तान्सन्त्यज्य ब्रह्मैवाहमिति यदा स्वस्मिन् जानाति तदैव जीवति सफलं जीवनम्, जीवन्मुक्तो भवतीत्यर्थः । पुनर्मनुष्योऽहमिति मृत्यु न प्राप्नोति । यच्चैतन्यं सर्वमिद पश्यति, तं कोऽपि न जातिबुद्ध्याद्यगोचरं यत्तदेवादृष्टं ब्रह्मेति भावः ॥ ८ ॥

वेदों और उपनिषदों के कथन के अनुसार 'तू वही है—"तत्त्वमसि"। तू ब्रह्मप्राप्ति का अधिकारी है, तू विवेकशील और शमदमादि से सम्पन्न मुमुक्षु है। जीव और ईश्वर का ऐक्य जान कर संसार से निवृत्त होकर परमानन्दावाप्ति इस ग्रन्थ का प्रयोजन है। नारद ने सनकादिक को यही उपदेश दिया था, भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में उद्धव को यही बतलाया था, और निमि राजा तथा विदेह भी इसी मन्त्र का अनुभव करके जीवन्मुक्त हो गये।

इस परम पद की प्राप्ति तभी सम्भव है जब मुमुक्षु अपने कुल, वर्ण, जाति, आश्रम आदि का अभिमान छोड़कर जीवन्मुक्त हो जाए। वह मुक्त ही है, जिसका स्वरूप बुद्धि के अगोचर है, वही ब्रह्म है।

रमैनी-९

बाँधे[1] अष्ट कष्ट नव सूता। यम बाँधे अंजनी[2] के पूता॥
यम के वाहन बाँधे जनी। बाँधे सृष्टि कहां ले गनी॥
बाँधे देव तेंतीसों क्रोरी[3]। समरत (थ) वंद लोह गो तोरी॥
राजा समरे तुरिया चढ़ी। पंथी समरे नाम ले बढ़ी॥

---

१. बाँध्यो

२. अजनी। व्याख्या में यही शब्द लिया गया है।

३. तेंतीस करोरी।

अर्थ बिहूनी समरे नारी ! प्रजा समरे पहुमी झारी ।।
बंदी मनावे ते फल पावे । बंदि दिया सो देह ।
कहहिं कविर ते[1] ऊबरे, निसि वासर नाम हिं लेइ ।। ९ ।।

ननु कृच्छ्रचान्द्रायणादि चाष्टांगयोगसाधन [2]कुर्वन्ति ते आत्मस्वरूपं कुतो न लभन्ते इत्यत्राह-बाँधे इति । ब्रह्माहमिति स्वरूपज्ञानं बिना नानात्मवादिनोऽष्टाङ्गयोगादिभिर्बाह्यसाधनैः क्लिश्यन्ति, सकामिनश्च कृच्छ्रचान्द्रायणसाधनैः नव सूता=प्रकृत्यादिनवतत्त्वान्येव सूत्राणि,[3] तान्येव वासनामूलानि, तद्युक्त-वासनयैवात्मानं बध्नन्ति । तथा यमनियमादिसाधनयुक्ताः सन्तः । अंजनी=देहः, तत्प्रकाशकः । अतः पूतः पवित्रो यः प्राणस्तं वशीकुर्वन्ति । स्वात्मज्ञानं विना प्राणायामादिसाधनकदम्बकं कुर्वन्ति । तथापि ते स्वात्मरूपं न लभन्ते, अतस्तेषां श्रम एव । यतः आत्मा साधनरहितः, अतो न प्राप्यते इति भावः । तत्र श्रुतिः 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् इति । अतो बुधा यमस्य=नियमरूपस्य, रागस्य द्वेषस्य च वाहनमहंकारस्तस्य जनी=माता, अविद्या, तां विद्यया बध्नन्ति । विद्वान् शत्रुवत् दण्डयतीत्यर्थः । स्वरूपज्ञाने कार्यकारणरूपा सृष्टिर्लीना भवतीत्यर्थः । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति विचारे त्रयस्त्रिंशत्कोटिदेवतानां बाध एवेत्यर्थः ।

स्वरूपस्मरणादेव लोहशृङ्खलेव संसृतिबन्धः गो=गतः, तोरी=छिन्न इत्यर्थः । तुर्यावस्थां प्राप्य 'ब्रह्माहमि'ति स्मरति, तदा राजा=प्रकाशको भवति । राजृधातोर्दीप्त्यर्थकत्वात् । पन्थी=जिज्ञासुर्ब्रह्मस्मरणेन स्वरूपनिश्चयेनैव सन्देहाद्विमुक्तो भवतीत्यर्थः । मुमुक्षावती नारी चेत्सापि निष्कामा ब्रह्मनिश्चयेन संसार रहिता भवतीति भावः । प्रजेति । प्रकर्षेण सर्वोत्कर्षेण सर्वपराजयेन स्वयं जायते, भवतीति प्रजा=ब्रह्मविद्या, यस्योत्पद्यते तस्य झारो=सर्वं ब्रह्मैव । पहुमो=व्याप्य शान्तिर्भवति तदा तत्फलं ब्रह्मानन्दः प्राप्यते । बन्दि=विचारो यो दीयते विद्यया, सोदे=स उदितो भवति । कबीर=वेदाः वदन्ति-अखण्डं नाम स्वात्मविचारं ये कुर्वन्ति त एव संसाराब्धेः पारं गताः नान्यसाधनपराः इति भावः ।। ९ ।।[4]

---

४. तेइ।

५. यम-नियम-प्राणायामादि ।

६. कदाचित्-प्रकृति, महत्, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा और मन । भिन्नार्थ के लिए देखिए-सं० बी.ब., पृ० ५२ ।

७. रमैनी ९-१० के भिन्नार्थ के लिए देखिए-सं० बी० ब० । कठिन शब्दः-अष्ट कष्ट=आठ सिद्धियाँ; नव सूता=ऊपर टिप्पणी के अनुसार; अथवा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार (भ० गी०, ७, ३); अजनी =जन्म रहित, प्रकृति; समरत=स्मरत (सुमिरत); समरे=सुमिरे; तुरिया= तुर्यावस्थाः बिहूनी=रहितः पहुनी=पृथ्वी ।

महद्, अहंकार, पाँच तन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) और दस इन्द्रियाँ-इन्हें वासना उत्पन्न करती है-यही लिंग शरीर कहलाता है, जो नाना योनियों में भ्रमण करता रहता है। परमात्मा का ज्ञान होने पर अन्तरानन्द के साथ बाहर भी आनन्द आता ही है। इस स्थिति में मलिन वासना का पुनरावर्तन नहीं होता। वेद भी यही कहते हैं। किन्तु देह-वासना में लिप्त रहने के कारण अज्ञानी नाना योनियों में भ्रमण करता रहता है, और अपने शरीर में अभिमान करता है। ज्ञान, सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों गुणों से आवृत्त है, अतः उसमें सुर, नर, मुनि सभी बँध जाते हैं और वे वायु, अग्नि और जल से बनी इस देह को सब कुछ मान लेते हैं। इसमें ममत्व की भावना हो जाती है। इस प्रकार केवल ज्ञानी को छोड़कर सभी जीव बन्धन में पड़ जाते हैं और अज्ञान-सागर में डूबते हुए त्रिताप-नाशक अमृत को नहीं जान पाते। निष्कामता ही जीवभाव का अन्त करती है।

रमैनी-१०

राहि (ही) लेपि पराही[१] वही। करंगी आवत काहू न कही ॥
आई करंगी भया अजगूता। जन्म जन्म जन्म[२] पहिरे बूता ॥
बूता पहिरि जम करे समाना। ति (ती) निलोक महं करे पयाना ॥
बाँधे ब्रह्मा विष्णु महेसू ! सुर नर मुनि अव बाँधे गणेसू ॥
बाँधे पवन पावक जलधीरा[३]। चाँद सूर्य दुइ बाँधे वीरा[४] ॥
साँच मंत्र सभ बाँधे[५] झारी। अमृत[६] वस्तु न जाने नारी ॥
अमृत वस्तु न जाने[७], मगन भया सर्व लोई।[८]
कहहिं कबिर कामो नहीं, जीवहि मरण न होई[९] ॥ १० ॥

राहीति। 'राह' इति मार्ग-नाम। तद्वती=नानायोनिषु गमागमं कुर्वती लिङ्गदेहरूपा वासनाख्या सप्तदशतत्त्वाख्या। सैवात्मज्ञानं विना नानायोनिष

---

१. राही लै पिपराही।
२. यम
३. थल नीरू।
४. वीरू।
५. बांधिन सब।
६. अमरित।
७. बाँधिन सब।
८. लोय।
९. होय।

जायते। पराही=परमात्माहमिति यदा ले, ला-आदाने=स्वानुभवं गृह्णाति, तदा बहिरपि परमानन्दं प्राप्नोत्येव। तदा वासनाबीजं दग्धं भवतीत्यर्थः।

करङ्गी=पुनः कर-अङ्गी=शरीरकारिणी मलिना वासना न आवत=नागच्छति; इति वेदा वदन्तीति भावः। आईति। यः अज्ञानी महात्मनि, करंगी=देहवासनाभावं मन्यते, अजगूता=मूर्खस्येदमेवाश्चर्यमिति भावः। स एव जन्म-जन्मनि, दूता=अभिमानेन चतुरशीतिलक्षयोनिषु पहिरे=जायते इत्यर्थः। अत एव स्वात्मविचारहीनाः पुरुषाः, बूता पहिरि=शरीरत्रयाभिमानं कृत्वा पुनः पुनस्तेषु, समाना=प्रविश्य जन्म=जम्भ स्वीकुर्वन्तीत्यर्थः। तीनेति=स्वर्ग भूमा-वधश्च प्रयाणाप्रयाणं कुर्वन्ति-गच्छन्तीत्यर्थः। यद्वा देहत्रयेष्वित्यर्थः।

बाँधे इति। रजः सत्व तमोगुणैर्ज्ञानमाच्छाद्यते इति भावः। तैर्गुणैः सुराः=देवाः, नराः=मानवाः, मुनयः=केवलाभ्यासपराः, गणेशः=तत्त्वगणस्वामी चिदाभासश्च बध्यते=गुणरूपा भवन्तीत्यर्थः। पवनपावकजलाद्यात्मको देहोऽह मित्यज्ञो बध्यते। धोरू=यमकमेलनार्थः (?)।[10] कं पदं धीरो न बध्यते। चन्द्र-सूर्यौ इडापिङ्गलनाडीस्थौ-स्वरशास्त्रज्ञानेऽभिमानः-ताभ्यां जीवो बध्यत इत्यर्थः।

साँचेति। पुत्रादिप्रतिपादकं-'नापुत्रस्य लोकोऽस्ती'ति वचनं मन्त्र, सारी=सर्वं भोगादिकं सत्यं मत्वा तेषु बद्धो भवतीत्यर्थः। अमृतेति! अनारी—मूर्खः 'ब्रह्माहमिति' तापत्रयनाशकममृतं वस्तु न जानातीति भावः।

लोई=मनुष्याः 'ब्रह्माहमि'ति न जानन्ति; कुत इत्यत आह-अज्ञानसमुद्रे-निमग्नत्वात्। कबीर=श्रुतयो धीराश्चैवं[11] वदन्ति-निष्कामतयैव जीवत्वनाशः। तदामरणाद्यभावः सम्पद्यते। तत्र भगवद्गीतोपनिषद्—'आपूर्यमाणमचल-प्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्। तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमा-प्नोति न कामकामी' इति भावः॥ १०॥

वासनारूप लिंगदेह आत्मज्ञान के अभाव में नाना योनियों में भटकता रहता है। मैं स्वयं परमात्मा हूँ यह अनुभव हो जाने पर वासनारूपी बीज नष्ट हो जाता है और इसी से परमानन्द की प्राप्ति होती है। तब चौरासी लाख योनियों में जन्म लेने से भी छुटकारा हो जाता है।

ज्ञान का आच्छादन करने वाले सत्त्व, रज और तमोगुण से सुर, नर और मुनि भी स्वर्ग और भोग में बँधे ही हैं और अज्ञान रूपी समुद्र में डूबा हुआ व्यक्ति अपने स्वयं के ब्रह्मस्वरूप को नहीं जान पाता। निष्काम कर्म से ही जीवत्व और जन्म-मरण का नाश होता है।

---

१०. इसका अर्थ स्पष्ट नहीं है।

११. प० कबीरः=श्रुतयो धीराश्च।

रमैनी-११

आँधरि गोष्टि[1] सृष्टि भो[2]बोरी। तीनि लोग[3]महँ लाग ठगोरी ॥
ब्रह्महिं ठग्यो नाग कहँ जाई। देवता[4]सहित ठगो त्रिपुरारी ॥
राज ठगोरी विष्णुहिं परी। चौदह भुवन के[5] चौधरी ॥
आदि अन्त जाके जनक न जानो। ताकी डर तुम काहे को मानो ॥
वो उतुंग तुम जात पतंगा। जम के घर कियेहु जोव संगा[6] ॥
नींव[7] कीट जस नींब पियारा। विष के अमृत[8] कहें गँवारा ॥
विष के संग कवन गुण होई। किंचित् लाभ मूल गो खोई ॥[9]
विष अमृत गो एके सानी। जिन्हि जाना तिन्हि विष के मानी ॥
कहा भये नल शुद्ध विशुद्धा[10]। बिनु परचे जग बूड़ न बूझा[11] ॥
मति के हीन कवन गुण कहही[12]। लालच लागे आसा रहई ॥
मूवा है मरि जाहु के,[13] मुये कि बाजी ढोल।
सपन स्नेही जग भया, सहिदानी रहिगो[14] बोल ॥ ११ ॥

आँधरीति। आँधरी=सकामवाणीं श्रुत्वा, सृष्टिः=सर्वेजनाः स्वात्मविचारहीना इत्यर्थः। तत्र श्रुतिः—'न तं विदाथ य इमा जनानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव नोहारेण प्रवृत्ता जल्प्या चासुतृप्त उत्थशासश्चरन्ति' इति। तीनीति। वैकुण्ठसत्यकैलासपदैः परोक्षमेव जोवांश्छलयति वाणी। नाग=सकामवाणी; तथा ब्रह्मापि सकामो भूत्वा मोहित इत्यर्थः। त्रिपुरारिः=शिवोऽपि दक्षभृग्वादिवाक्यै[15]र्वञ्चितः। तथा नारदमुखाद्दक्ष यज्ञे सती नाशं श्रुत्वा कोपाद्वीरभद्र-

---

१. गुष्टि।
२. भइ।
३. लोक।
४. देवन।
५. केर।
६. यम घर कियहु जीव को सङ्गा।
७. नीम।
८. अमरित।
९. इस और इसके बादवाली रमैनी में क्रम-व्यत्यय है।
१०. काह; नर।
११. परिचय; वृद्धा।
१२. कवन; कहई।
१३. मूवे हो मरि जाहुगे।
१४. गो-अनावश्यक।
१५. 'भ' की मात्रा लिपिकार ने छोड़ दी है।

मुत्पाद्य यज्ञं दक्षं च जघान। इदं च श्रीमद्‌भागवते चतुर्थस्कन्धे सत्युपाख्याने स्पष्टम्।

राजेति। यो देवानां राजा विष्णुः सोऽपि वाण्या वञ्चितः। कदा? तथाहि-एकदा विष्णुर्ब्रह्मलोकं जगाम। तं दृष्ट्वा ब्रह्मादयः सुराः प्रणम्यार्घ्य-पाद्यादिभिरर्हणां चक्रुः। तत्र ध्यानस्थाः सनकादयस्तमागतमज्ञात्वा सत्कृतिं न चक्रुः। तत् ज्ञात्वा विष्णुः क्रुद्धो भूत्वा तान् शशाप—'भो भोः सनकादयः, सर्वलोको मां नमस्करोति, वेदा मां सर्वादिरिति वदन्ति, यूयं हेलया न ज्ञातवन्तः, अतः कामातुराः षण्मुखत्वं प्राप्स्यथे'ति। इदं च बृहद्रामायणे वासिष्ठे स्पष्टम्। स कीदृशो विष्णुः? चतुर्दशलोकाधिप इत्यर्थः।

आदीति। जलजाद्‌ब्रह्मा जातः स पद्मज इत्युच्यते। तन्मुखाद्वाणी प्रसृता। सोऽप्यादिमध्यान्तान्न जानाति। ताके इति। तादृश्या वाण्याः स्वर्गनरकव्याख्याकर्त्र्याः भयं, भो मुमुक्षो, किं मन्यसे? त्वं शुद्धबोध एवेत्युपदेश इत्यर्थः। वो=तद्‌ब्रह्म उत्तुङ्गम्=उच्चम्, सर्ववाक्परं, सर्वव्यापी। तस्मात्त्वं जातः, पतङ्ग=सूर्यसदृशः प्रकाशकोऽसि। जमेति। यमः=यमनकर्त्री, बन्धनकर्त्री कर्मबीजाङ्कुररूपा मलिनावासनाऽधरा। तस्यामन्तः प्रविश्य ब्रह्मरूपस्त्वं कथं वससि? अतो निर्वासनो भवेत्युपदेशः।

तर्हि जीवस्य तद्‌गृहं कथं प्रियमित्यतो दृष्टान्तेनाह-नीमेति। यथा निम्बवृक्षस्थकीटस्य निम्बरस एवामृततुल्यो भवति तथा जीवस्य मलिनवासना प्रियेति भावः। तदेवाह-विषेति। विषयलम्पटः पुरुषः स्वर्गादिविषयभोगवार्तामिमृतसमां मूढो वदतीत्यर्थः। विषतुल्यैः स्त्र्यादिविषयैः सह सङ्गेन को गुणः? न कोऽपि। अपि तु रजस्तमोभूतत्वमेव भवतीति भावः। किञ्चिल्लाभरूपस्त्र्यादिसुखार्थं वासनाबद्धो भूत्वा नारक्यां योनौ जायते; अत एव मूलम्=स्वात्मविचारः, तद्रहितो भवतीत्यर्थं विषयभोगकाले एवं वदति—अनर्थरूपा एते विषयाः, एतान्नाहं भुञ्जामि।

तथापि विषयाः पुरुषेण कुतो भुज्यन्त इत्यत आह—एके सानीति। विषरूपेष्वपि विषयेषु चिदमृतस्य संयोगात्तेषु लिप्तो भवति; तेन सुखं दुःखं स्वस्यैव मन्यते इति भावः।

जिन्हि इति। येन मुमुक्षुणा निजात्मसुखं ज्ञातं, तेनैव परमानन्दप्राप्तत्वादि मान्विषयान्विषतुल्यान् ज्ञात्वाऽनासक्तो भूत्वा शरीरत्रयान्मुच्यते इत्यर्थः। इदमति चित्रमित्याह-काहेति। काह=कुतः शुद्धश्चिदात्मा; स एव बुद्धौ चिदाभासरूपो भूत्वा, विशुद्धसत्त्वरूपो भूत्वा नररूपोऽहमित्यात्मानं मन्यते इति भावः। तदेवाह-

त्रिन्विति। स्वपरमानन्दसुखपरिचयं विना जगत् ज्ञातृज्ञानज्ञेयत्रिपुटीजाते निमग्नम्, यत आत्मस्वरूपं न जानातीति भावः। मतीति। स्वानुभवविचारहीनस्य यशः किं वर्णयितव्यम् ? अज्ञस्तु मृगतृष्णातुल्ये स्वर्गादौ लोकाभिभूतः सन् आशाबद्धस्तिष्ठति। तेन लिप्तो भवतीत्यर्थः।

मूवेति। ब्रह्माहमिति विचारं विना प्राणभृतो मृता एव; अग्रेऽपि चतुरशीतिलक्षदेहेषु जननं मरणं च प्राप्स्यन्ति। तर्हि नरदेहधारणमपि व्यर्थम्। यतः पशुदेहस्य मरणेऽपि तच्चर्मणा दुन्दुभ्यादिकं वाद्यमपि भवति; नरस्य न किमपि। अतः स्वप्नमिलितजनस्नेहवदेव स्त्र्यादिप्रीतिर्मृषैव। अतोऽन्ते, बोलवेदा एव वाणीमात्रं तिष्ठन्ति। कथम् ? सहिदानो=सर्वदैकरसं ब्रह्मैवेति ज्ञापयन्ति —'वचोविभूतिर्न तु पारमार्थ्यम्' इति श्रीमद्भागवते द्वादशस्कन्धे शुकोक्तेरिति भावः॥ ११॥

सकाम उपासना के कथन ने सभी को आत्म विचार से हीन बना दिया है। यही कथन वैकुण्ठ, सत्य और कैलाश की प्राप्ति का लोभ बता कर जीवों को छलता है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी इसके मोहित हैं। स्वर्ग और नरक भी इसी की सृष्टि है। किन्तु हे मुमुक्षु, तू इन सबसे परे है और सूर्य के समान प्रकाशमान है। अतः बन्धन में पटकने वाली इस वासना को छोड़ दे। नीम में रहने वाले कीड़े को नीम ही प्यारा लगता है। इस अनर्थकारी विषय का त्याग कर। यह विष ही है।

शुद्ध चिदात्मा का बुद्धि में आभास होने से ही तुझे अपने नर-रूप की भ्रान्ति हो सकती है। स्वर्ग आदि की प्राप्ति का लोभ मृग तृष्णा ही है। पशु-देह का भी जन्म और मरण होता ही है। किन्तु तू नर-देहधारी है और सुख-दुःख को स्वप्न के समान समझने पर सर्वदैकरस ब्रह्म ही है।

रमैनी-१२

माटि के कोट पाषाण के ताला। सोई वन सोई रखवाला॥
सो वन देखत जीव डेराना। ब्राह्मण वीसनो[1] एक के जाना॥
जोरि किसान किसानो करई। उपजे खेत बीज नहिं परई॥
छाँडि देहु नल[2] झेलिक झेला। बूड़े दोउ गुरु औ चेला॥

---

१. वैष्णव।
२. नर।

तीसर बूड़े पारथ[३] भाई। जिन बन दाहो दमाल गाई[४] ॥
भूँकि भूँकि कूकर मरि गयेऊ। काज न एक सियार से भएऊ[५] ॥

मुसा बिलाई एक सँग, कहु कैसे के[६] रहि जाय।
अचरज एक देखहु हो सन्तो,[७] हस्ती सिंहहिं खाय ॥

माटी के इति। मृण्मयमिदं शरीरं, दुर्गपाषाणरूपमज्ञानम्। तेनैव शरीरं कीलितमित्यर्थः। सो इति। शरीरत्रयमेव वनम्; तदीशश्च चिदुत्पन्नत्वाच्चिद्रूप एवेति भावः। रखवारा=आयुष्यरूपेणास्य पातापि प्रकाशकोऽपि स एवेत्यर्थः। सो वनेति। स चैतन्यरूपः शरीरान्तरे[८] दृष्ट्वा, स एव जीव=जीवत्वं प्राप्य डराना=शोकमोहादिवशो भूत्वा भीतो भवति।

ब्राह्मणेति। चैतन्यमेव ब्राह्मणः, वैष्णवः, महाभूतानि, तन्मात्राः, इन्द्रियदशकम्, अन्तःकरणचतुष्टयं, प्रकृतिमहदहंकाराः, जीवेशौ चेत्येकोनत्रिंशत्तत्त्वगणः एतदहमेवेति जानाति। किसान=कर्षकवज्जीवः। क्षेत्रज्ञः स एव, सुखदुःखयोर्भोक्ता। तदेव संचिनोति; स्वात्मरूपं विस्मृत्याहमिति मन्यते इत्यर्थः। खेत-देहोत्पत्तौ, बीजं=वासना; तन्नाशो न भवति; तेनैव देहान् बिभर्तीत्यर्थः[९]।

नरोऽहमिति झेली=बुद्धिः; कीदृशी? झेलीक-स्वरूपा=वरणकर्त्री। तस्माद्देहभावं विहाय चिद्रूपोहमिति भावनां कुरु। तदुक्तमध्यात्मरामायणे वाल्मीकिना कुशं प्रति—'सङ्कल्पतन्तौ निखिला भावाः प्रोक्ता मयानघ। क्षये सङ्कल्पजालस्य जीवो ब्रह्मत्वमाप्नुयादिति'। गुरुः शिष्यश्चोभावपि हिंसाप्रायकर्माचरणान्नानामतैर्बुद्धिभ्रंशादज्ञाने निमज्जन्ति।

तीसरेति। तृतीयोऽष्टाङ्गयोगवादी पार्थः=क्रियानिपुणः। जिन्हीति। वनदाहः=शरीरदाहः प्राणायाम एव। स यैः कृतस्तेऽपि ज्ञानाभावादभिमानिन एव। भूँकीति। शुनां तुल्याः नानामतवादिन इति भावः। सियार=शृगालवल्लुण्ठकः संसारस्तस्मिन् किमपि कार्यं नास्ति। बिलाई=सर्वलयकर्त्री ब्रह्मविद्या;

---

३. पारथि।
४. जिन बन दाह्यो दावा लाई।
५. स्यार।
६. यह अक्षर अनावश्यक है।
७. 'सन्तो' अनावश्यक है।
८. शरीरान्तरम् (?)
९. पोथी में 'विभ्रति' लिखा है, जो त्रुटि है।

मुसा=ज्ञानहतृं मन:; उभयमेकत्र कथम् ? इदं चित्रम्, हस्ती=निश्चयात्मिका बुद्धि:; सिंह=अज्ञानं नाशयतीति भाव: ।

शरीर मिट्टी का किला है और इसमें अज्ञान-जनित वासना का ताला लगा है । इसमें निवास करने वाला चैतन्य का अंश शोक, मोह आदि के वश होकर स्वयं को भूल जाता है और ब्राह्मण, वैष्णव आदि का विचार करता हुआ देह को ही आत्मा मानने लगता है । इस प्रकार वह आत्मस्वरूप को भूल कर सुख, दु:ख आदि का उपभोग करता हुआ वासना में बँध जाता है । वह इस संसार रूपी खेत में किसान की तरह वासना का संचय करता हुआ आत्मरूप को भूल जाता है । यही बुद्धिभ्रंश है । अत: वासना का त्याग करना ही उचित है ।

इसी प्रकार, योग-वादी भी प्राणायाम आदि से अपना शरीर जलाते हैं, जैसे पृथा-सूनु ने खाण्डव वन जलाया था । यह संसार सियार की तरह लुटेरा है । चूहा (ज्ञानहीन मन) और बिल्ली (सर्वलय कारिणी मति) साथ नहीं रह सकते । यह तो आश्चर्य ही है कि हाथी (निश्चयात्मिका बुद्धि) सिंह रूपी अज्ञान को खा जाता है ।

रमैनी-१३

नहिं परतीति जो एहि[१] संसारा । दर्वक[२] चोट कठिन के मारा ।।
सो ते शेषहु जाय नुकाई[३] । काहू के परतीति न आई ।।
चले लोग सर्व[४] मूल मूल गमाई । मज कि वाढ़ काढ़ि[५] नहिं जाई ।।
आजु ए काज जे काल्हि[६] अकाजा । चले लादि डितंतर[७] राजा ।।
सहज बिचारे मूल गमाई । लाभ ते हानि होइ रे भाई ।।
वोछी[८] मती चंद्रमा गो अथई । त्रिपुटि संगम सामी[९] बसई ।।

---

१. नाहिं प्रतीजै यहि ।
२. द्रव्यक ।
३. तो···लुकाई ।
४. सब ।
५. यम की बाढ़े काटि ।
६. आजु काज है काल्ह ।
७. चलेउ लादि दिगन्तर ।
८. ओछी ।
९. त्रिकुटी ··स्वामी ।

तब ही विष्णु कहा समुझाई । मिथुन आठ[10] तुम जीतहु आई ॥
तब सनकादिक तत्व विचारा । जैसे रंक परा धन पाया[11] ॥
भव मर्याद बहुत सुख लागा । एहि लेखे सर्ब[12] संशय भागा ॥
देखिन उत्पत्ति[13] लागु न बारा । एक मरे एक करे विचारा ॥
मुई गये की कोन न कहई । झूठी आस लागि जग रहही ॥

जरत जरत ते बाँचि हो, काहे न करहु गोहारि[14] ।
विष विषे के[15] खाए हु, राति दिवस मिलि झारि ॥ १३ ॥

नन्विदं ज्ञानं प्राणिनां कुतो न भवतीत्याह—नहीति । अस्य ज्ञानोपदेशस्य प्रतीतिः=विश्वासः कस्यापि न भवति । कुत इत्यत आह=दर्बकेति । दर्बकदर्वी तुल्यैरनेकजन्मसञ्चितकर्मभिः, चोट=बद्धः, कठिनमोहपाशादज्ञानेन, मारा=मृतो भवति । सो=तद्ब्रह्म, ते=तव स्वरूपं, शेष='नेति नेतो'ति श्रुत्युक्तं वस्तु तत्त्वमसीत्युपदेशं श्रुत्वापि, नुकाई जाय=आलस्यं जायते इत्यर्थः । अतः कस्यापि ज्ञानप्रतीत्यभावः ।

चले इति । लोग=चत्वारो वर्णाः सर्वमूलं चिदात्मज्ञानं विस्मृत्य संसृतिं गच्छन्ति । यमो=वर्णाश्रमवाहनमित्यज्ञानस्य, बाढ़ी=वृद्धिः, काढ़ि=दूरीकर्तव्येत्यर्थः; यस्मात् स्वरूपान्न जाई=न शक्योऽद्वैतत्वं प्राप्तुं नार्हतीति भावः । आजु=मनुष्यवपुर्लब्ध्वा, एकाज=स्वात्मज्ञानमेव कार्यं=कर्तव्यम्; जे कालिह=स्वरूपज्ञानं विना चतुरशीतियोनिषु जायन्ते; तदेव, अकाज=अकार्यमित्यर्थः । तत्र श्रुतिः='आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति । चले इति । महाभारं डि (दि) गन्तर=स्वान्तरे, कीदृशं ? वर्णाश्रमाभिमानरूपं, राजसादिगुणयुक्तमित्यर्थः, सहजविचारे=इदं सर्वमकार्यं मूलं=निजस्वरूपं विस्मृत्याज्ञानयुक्ता भवन्तीति भावः । भाई-इदमाश्चर्यं लाभ ते=मानवं जन्म प्राप्यापि हानिः[16] स्वात्मविचाराभावः । तेन स्वर्गनरकादि भुञ्जते ।

---

१०. मैथुन अष्ट ।
११. पराधन पारा ।
१२. सब ।
१३. उत पति ।
१४. काहु करहु गोहार ।
१५. विष विषया संग ।
१६. अशुद्ध वाक्य ।

वोछीति। जीवोऽहमितीयमेवाल्प मतिः। कस्मादित्याह। यथा चन्द्रमाः महाभूतज्ञानकर्मेन्द्रिय च[१७] मनोरूपषोडशकला युतः प्रकाशकः पूर्णः पुरुषः। अथई गो=अस्तं गच्छति; अज्ञानेनात्मरूपस्य छादतत्वात्। इयं बुद्धिर्नीचेति भावः। तत्राध्यात्मरामायणे रामागस्त्यवाक्यम्=‘देहोऽहमिति या बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्तिता। नाहं बुद्धिदेहश्चिदात्मेति बुद्धिविद्येति भण्यते’॥ इति स्वयं चिदात्मैक एव त्रिपुट्यां सङ्गच्छति, व्याप्नोतीत्यर्थः।

तब होति। त्वं साक्षात् चिद्रूपोऽसीति ज्ञानं शुद्धान्तःकरणाय मुमुक्षवे सनकादिकाय गुरुर्विष्णुर्ददाति। तब ही=विष्णुरहमिति सिद्धज्ञानायाह—‘भो विद्वन्, मिथुनाष्टकेन षोडशकलाः मनः सहिताः, जाई=बहिर्गच्छन्ति; ताः ब्रह्मण्येको कुर्वित्यर्थः। मनोजयस्यैव मूलत्वात्। तत्र श्रुतिः—‘मनो हि द्विविधं प्रोक्तं, शुद्धं चाशुद्धमेव च। अशुद्धं काम सङ्कल्पं शुद्धं कामविवर्जितम्॥’ इति तत्र तदा सनकादिकः शुद्धान्तःकरणस्तत्वविचारं करोतीति भावः। तदव निर्मलो भवति। तत्र दृष्टान्तः—जैसे इति। यथा रंको=निर्धनश्चिन्तामणिं लब्ध्वा परमानन्दी भवतीत्यथः। ‘रसमेवायं लब्ध्वानन्दी भवति’ इति श्रुतेः।

भवमर्याद=संसारस्यावधिभूतं स्वरूपं विचार्य अतिसुखं प्राप्नोति, बुद्धेः पारगमनादिति भावः। एष्वानन्दसुखं हि तन्निश्चयं प्राप्य, लेखे=लक्ष्यलक्ष्यीकृतस्य, संशयो=विपरीतभावना नश्यतीत्यर्थः। कश्चिद्विद्वानिदं सर्वं, देखिन्हीति=इदं सर्वं पश्यति, तथापि, उतपति=उत्पत्त्यादिकं, बारा=निवारयति। आत्मनि विलग्नः; अत एव उत्पत्यादिकं मनसि न मन्यते इति भावः।

एकेति। एकः=विचाही (?) नैव म्रियते; एकोविचारयति स जायते। जो=विचारहीनस्तद्वार्तां विद्वानब्रवीदिति मृषारूपविषयाशायां सर्वे निमग्नाः। नरतेति। क्रोधाग्निना दग्धः किमर्थं भवसि? तद्रहितो भूत्वा, भो मुमुक्षो, गोहारि=विचारं किं न करोषि? विषय एव सर्पस्त्वां दशति; केवलं त्वामेव न, झारि—सर्वानज्ञान् अहर्निशं दशति। अतस्तन्निवारणार्थं स्वरूपविचारं कुरु। तेनैव विषयरूपसर्पदंशोद्भवं दुःखं दूरीभविष्यतीति भावः॥ १३॥

आत्मज्ञान की प्रतीति न होने के कारण अनेक जन्म का कठिन मोहपाश ही है। आलस्य भी इसके साथ बँधा ही है। यही संसारावर्तन का कारण है। इससे छुटकारा न

---

१७. सामासिक शब्द के बीच में ‘च’ का प्रयोग वाक्य निर्माण में बिसंगति-प्रदर्शक है। पाठ स्पष्ट है; सम्भवतः लिपिकार ने अशुद्ध लिखा है, जिसे जानने का कोई साधन उपलब्ध नहीं है। षोड़शकलाएँ=पञ्च महाभूत, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय और मन। पञ्च महाभूत-ज्ञानकर्मेन्द्रियमनोरूप•••।

होना अनर्थ ही है । आत्मा ज्ञान और अज्ञान इन दोनों से आच्छादित रहता है। इस आवरण को दूर करके स्वरूप का विचार करने वाले ज्ञानी सनकादिक के समान विरले ही होते हैं। इस विचार से हीन व्यक्ति योनियों में भटकते रहते हैं और विषय रूपी सर्प उन्हें डसता रहता है। अतः आत्मज्ञान का विचार करना चाहिए।

रमैनी-१४

बड़ से पापी आहि गुमानी। पाखँड रूप छरे न[1] जानी ॥
वामन रूप छरे बलि राजा। ब्राह्मण कीन्ह कवन को काजा ॥
ब्राह्मण ही सब कीन्ही चोरी। ब्राह्मणहि को[2] लागलि खोरी ॥
ब्राह्मण कीन्हो ग्रंथ पुराना। कैसेहु के मोहि मानुष जाना ॥
एक से ब्रह्मा पंथ चलाया। एक से हंस गोपालहि गाया ॥
एक से स्वयंभू[3] पंथ चलाया। एक से भूत प्रेत मन लाया ॥
एक से पूजा जैनि विचारा। एक से निहुरि निमाज गुजारा ॥
कोई काहू के का (क) हा[4] न माना। खू (खोटा)[5] कसम कबीर हि जाना ॥
तन मन भजि रहु मोरे भक्ता। सत्य कबीर सत्य हे (है) वक्ता ॥
आपै देवा आपै पाती! आपै कुल आप हे[6] जाती।
सर्वभूत संसार निवासी। आपै खसम आप सुखवासी ॥
कहइति मोहि भेल जुग चारी। काके आगे कहौं पुकारी ॥

साँचहि कोइ न माने झूठा। के सँग जाई झूठ हो झूठा ॥
झूठहि झूठा मिलि रहा, अहमक खेहा खाइ[7] ॥ १४ ॥

---

१. छल्यो जल।
२. कहँ।
३. शम्भू।
४. हटा।
५. झूठा। व्याख्या में कसम के स्थल पर खसम लिया है।
६. आपु हि है।
७. यह दोहा चौपाई की तरह लिखा है। इस प्रकार पढ़िए—
साँच हि कोइ न मानई, झूठा के संग जाय।
झूठ हि झूठा मिलि रहा, अहमक खेहा खाय॥ जैसा अन्यत्र पायाजाता है। यह सारा वाक्य मेरी समझ से परे है। अनुमान है कि लिपिकार ने कुछ अंश अस्त-व्यस्त कर दिया हो। तीसरे अक्षर को दीर्घ लिखा है और उपान्त्य को 'रा' लिखा है। साखी का भी अर्धांश लिखा है।

बड़ से इति । पापी=अन्तःकरणाज्ञानम्, गुमानी=देहेन्द्रियाभिमानी । बड़ से=महदस्ति । कुत इत्यत आह, पाखण्डेति । पाखण्डं=पृथुयज्ञीयाश्वहरणे इन्द्रेण निर्मिताः कपटवेषाः, तैर्ब हून् जीवानज्ञानं वञ्च [य] ति; वा, सङ्कल्प-विकल्पात्मकं तन्मनः तदेव, बली=बलवन्तं, राजा=प्रकाशकं विवेकं वञ्चयति; तदेवाह—ब्राह्मणेति । ब्राह्मणोऽहमित्यभिमानात्किमपि कार्यं भवति ? नैवेत्यर्थः । ब्राह्मणश्चिद्रूपः स्वयं भूत्वा, सर्वमरणहेतुकं, चोरी=ब्रह्मत्वं विहाय, जीवोऽहमिति मत्वा विषयेच्छां करोति । खोरी=शरीरत्रयेऽहं भोक्तेति बुद्धिर्दुःखदेत्यर्थः । ब्राह्मणश्चिद्रूप एव पुराणः सनातनो जीवः, ग्रन्थ=अहंकर्मसंशयरूपं ग्रन्थित्रयं करोति । स्वानन्दपूर्णताज्ञानं विना केनचिद्गुणेन तपोविद्यादिना लोका मां पूजयिष्यन्तीति मन्यते जीवः ।

अथैवं मतिभेदान्मतभेदो बहुविध इत्याह, एक से इति । एकः कश्चित् 'एकोऽहं बहुस्यामेति श्रुतिज्ञानेनैव जीवबहुत्वं ब्रह्मण्यध्यस्यति । एक से=एक-स्माद्ब्रह्मणो हंसाच्छुद्धरूपात्सर्वमतः 'सोऽहं हंसः—प्रकाशरूपोऽहमिति कश्चिद्व-दति । तत्र हेतुः । गावः=स्वरूपभूताः श्रुतयः पालयतीति गोपालः इति गाथां विद्वांसः परस्परमेव वदन्तीति भावः ।

एक से स्वयम्भूरिति । स्वयमेव भवतीति स्वयम्भूर्जीवश्चिद्रूप एक एव । कनककुण्डलवत्सर्वं ब्रह्मैव । केनचिदेवं मार्गः प्रवर्तितः । यद्वा, स्वयम्भूर्ब्रह्मा, तदु-पासनं हैरण्यगर्भोपासनामार्गं इत्यर्थः । कश्चिद्भूतेति । ब्रह्मणो व्यक्तरूपभूतो-त्पत्तिः, ततो महत्तत्वम्, तस्मादहंकारतत्वम्, तस्माद्भूततन्मात्रादितत्वगणो यो जातः स प्रेतप्रकर्षेण विश्वमितम्=अस्तं गतम्, यस्मिन्स्तद्ब्रह्मरूपमेव सर्वं खल्विति मनलाया=मनसि विचारयति । एक से पूजेति । एकस्मात् ब्रह्मणः 'पूञ् पवने'; शुद्धा जनिः=उत्पत्तिर्यस्य स जीवः, पूजा-जनिः । सर्वमूलं ब्रह्माहमिति विचारात्सुखं भवतीत्यर्थः । एकस्माद्ब्रह्मणः सम्भूतो जीवः निहुरि=बुद्धौ, निमाज=निमग्नो भवति । गुजारा=गुशब्देनाज्ञानतमः, जीवोऽहमिति राजा ब्रह्माहमित्यनलेन दे (द ?) हेदित्यर्थः[७] ।

कबीरन्ही=कबीराः बाह्यकथाकुशलाःकवयो निजात्मविचारं विहाय, सूर=असत्, अखसमं, विषमम्, अशान्तं चलं स्वर्गादि जानन्तीति भावः ।

अतः स्वात्मज्ञानिनः शरणागतायैवमुपदिशन्ति—: हे भक्तमुमुक्षो, स्वा-त्मानं भजस्व; आत्मविचारं कुरु । कथमित्यत आह, तन=शरीरत्रयं, मनः=अन्तःकरणचतुष्टयम्; एतेषामेकोऽहमेव साक्षी । चिद्रूप इति । सत्यैति । एवं य उपदिशति, स कबीरः, ज्ञानी स एव वक्तेति भावः ।

अथ सर्वं ब्रह्मैवेत्याह, आपे इति। सर्वे देवाः पाती=वनस्पतयश्च ब्रह्मैव नान्यत्। कुलं=समूहं, जातिः=नराद्याः, ब्रह्मैव सर्वभूतेषु ब्रह्मादिस्तम्भान्तेषु संसारेषु संसारमूलेषु देहेषु निवसतीति-सर्वभूतसंसारनिवासो, सर्वान्तर्यामीत्यर्थः। स्व समः=आकाशवदचलः[८] सुखवासी=सुखाधारं (रः) ब्रह्मैव।

कहईति। चतुर्युगेषु श्रुतिद्वारा चिद्रूपः एवं वदामि। यद्वा, अवस्था चतुष्टयातीत[९] इति। काके इति। 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति श्रुतेरित्यर्थः।

सांचेति। ब्रह्माहमिति सत्यं कश्चिदपि न मन्यते। कुत इत्यत आह-भूठा असज्जीवोऽहमिति निश्चयवान्सततो मानवोऽहमित्यसद्वासना भवति, अतो वक्ताप्यसद्वादी, तद्वाक्यश्रोतापि तथैव। उभौ=द्वौ बद्धौ, अन्धानुगन्यायेनेत्यर्थः। अहमक=विज्ञानहीनः, खेहा=जनिमृतिदां वासनां भुनक्तीति भावः॥ १४॥

इन्द्रियाभिमानी बडा पापी और छली होता है। उसी ने वामन का रूप लेकर बली (राजा बलि और बलवान्) को छला था। ब्राह्मण चिद्रूप है किन्तु उसी ने सब को टगा है। उसी ने शरीरत्रय को भोक्ता मान कर अनेक ग्रन्थ रचे। वस्तुतः स्वयंभू जीव एक ही है; वही संसार का मूल है और वही सब देहों में व्याप्त है। किन्तु विज्ञानहीन जीव अन्धानुगन्याय से वासना के फेर में पड़ कर जन्म और मरण भोगता रहता है।

रमैनी-१५

उनई[१] बदरिया परिगौ संझा। अगुवा भूले वन खँड मंझा॥
पिय अनते[२] धनि अनते रहई। चौपरि कामरि माथे गहई॥

फुलवा भार न ले सके, कहै सखिन सो रोइ।
ज्यों ज्यों भीजे कामरी, त्यों त्यों भारी होइ॥ १५॥

अथ केवलं ज्ञानशून्या एव मतवादिवचनेन कर्मसु प्रवर्तन्ते, ते स्वात्मविचारहीना एवेत्याह-उनईति। प्रथमं मेघयुक्ताकाशवत्तमोरूपमज्ञानमेव जनान् व्याप्नोति। तादृशानज्ञान् शिष्यान् सन्ध्याकालतमोरूपवत् काम्यकर्ममतवादिनो बोधयन्ति; तेनातिभ्रमयुक्ता जना भवन्तीति भावः।

---

१. यहाँ 'निर्मल' शब्द अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।
२. चार अवस्थायें=बाल्य, यौवन, वार्धक्य और जरा।
३. उनइ।
४. अन्ते।

ननु ते उपदेशका: ज्ञानिन एव, तदुपदेशात्कथं भ्रम इत्यत आह-अगुवेति अगुवा=कर्ममार्गेऽग्रेचर:, आचार्यं इति यावत्। स एव वनखण्डविषयेषु सक्त: स्वात्मानं विस्मृत्य, भूले=ज्ञानरहितो भवति। तदुक्तं श्रीमद्भागवते श्रीनारदेन व्यासं प्रति— जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासत: स्वभावरक्तस्य महान्व्यतिक्रम:। यद्वाक्यतो धर्म इतीतर स्थितो न मन्यते तस्य निवारणं जन: इति।

तदुक्तं देशरूपमाह-प्रियेति। पिय=प्रिय: कश्चिदीशोऽस्तीति परोक्षं वदति; धनी=स एव सर्वैश्वर्यवान्, अहं तस्य दासोऽस्मि तद्भिन्न इति भेदबुद्धि ज्ञापयति। एतत्कुत इत्यत आह चौपरीति। अन्त:करणचतुष्टयं माथे गहई =तत्कृतदेहत्रयेऽहं कर्ताहं भोक्तेति मन्यते, स्वरूपाज्ञानात्।

फुलवा=स्वात्मज्ञानं पुष्पवदाह्लादकं, सर्वरसमूलं वा, तद्ग्रहीतुं न समर्थ; अत एव सखी=आत्मसमविषयिजनं ब्रवीति-अहं सुखयहं दु:खी क्षुत्पिपासावानित्यादि। ज्यों इति। कायवाङ्मनसां कर्माविद्यामयकामरीं गृह्य (गृहीत्वा) अहं वैष्णव इत्याद्यभिमानात् युता मलिना वासना, भीजे=पुष्टा भवति, तथा तथा—भारी=नानादेहेषु जन्ममरण प्राप्तिर्भवति। यावद्वर्णाश्रमाभिमानपूर्वक श्रुतिवाक्येषु विश्वासस्तावदेव मलिना वासना तिष्ठति। सा यावदस्ति तावदेव नानायोनिषु भ्रमणं, नान्यथा। तत्र श्रुति:—'वर्णाश्रमाभिमानेन, श्रुतिदासो भवेन्नर:। वर्णाश्रमविहीनस्य[3] वर्तते श्रुतिमूर्धनि॥ इति। तस्माद्वासनैव सर्वमूलमिति॥ १५॥

ज्ञानहीन व्यक्ति मतवादियों के फेर में पड़ कर कर्म में प्रवृत्त होता है। पर वे मतवादी भी स्वयं भूले हुए हैं और यह नहीं जानते कि ऐश्वर्यशाली प्रिय ईश उनके पास ही है, जिसे वे भिन्न और परोक्ष बतलाते हैं। इस प्रकार काम्य कर्म में गुमराह किया हुआ व्यक्ति वनखण्ड रूप विषयों में भ्रान्त होता रहता है और अध्यात्म तथा सर्वरसमूल आत्मज्ञान का भार वहन नहीं कर सकता। वह आत्मज्ञान से हटकर, वासना से घिरकर वर्णाश्रम के अभिमान से अधिकाधिक वासना से ग्रस्त होता रहता है और यही वासना पुनर्जन्म और पुनर्मरण का कारण बनती है।

रमैनी-१६

चलत चलत अति चरण पिराना॥ हारि परे तहँ अति रे सयाना[1]॥
गण गंधर्व मुनि अंत न पाया। हरि अलोप जग धंधे लाया।

---

३. विहीन: स:।

१. रिसियाना।

गहनो[1] बंधन बानि न सूझा। थाकि परे तव किछु[2] वो न बूझा।
भूलि परे जिव अधिक डराई। रजनी अंध कूप होइ आई॥
माया मोह उहाँ[3] भरपूरी। दादुर दामिनि पवन अपूरी॥
बरिसे तपे अखंडित धारा। रैनि भयावनि किछु न अहारा॥

सबै लोग जहड़ाइया, अंधा सबै भुलान।
कहा कोइ न मानै सब,[4] एकै माँहि समान॥ १६॥

अथात्मतत्वमज्ञात्वा कर्ममूढानां गतिमाह-चलतेति। चलत=सात्विक्या-दित्रिविधबुद्ध्या व्यवहारे तथा योगभक्तिजपतपदानादिमार्गैश्चरन्=अनुसरन्नपि, चरण=पादवत् क्रियासाधनं मनः, अति=अधिकं, पिराना=पीडितं भवति। तहां=तेषु साधनेषु वैराग्यद्वारा कश्चिन्मुमुक्षुर्जनः, अति परे=रहितो भवति। तदा सयाना=बुद्धिमान् भवति। निवृत्तावेव सुखं, नान्यत्रेति भावः। कुत इत्यत आह, गणेति। गणो=जीवसमूहः, गन्धर्वाः, मुनयः, एतैर्बाह्यायाः प्रकृतिवार्तया अन्तो न प्राप्यते। ये वैराग्यहीनास्ते हरेः अलोपं, भाषया अदर्शनं,[5] दूरतरं जानन्ति यतः, जगधन्धेति। नानाविधलोकव्यवहारे, लाया=हरिरस्तीति वदन्तीत्यर्थः।

गहनीति। सकामकर्मवासनाबन्धनं कर्त्री[6] जीवस्य वा निर्बन्ध (निर्बध्य?) माना यदा भवति तदा, न सूझा=स्वात्मविचारो न दृश्यते। थाकीति। सञ्चित-प्रारब्धागामिरूपकर्मत्रयेण नानायोनिषु श्रान्तोऽपि स्वात्मविचारं न जानातीत्यर्थः। भूलीति जीवो निजरूपं विस्मृत्य, परे=जीवोऽहमिति मत्वात्यन्तं डराई=सोऽहमिति ज्ञानं विना जन्ममृत्यादिभीतो भवति। रजनीति। अज्ञान तत्रापि अन्धकूपतुल्यम्, मानवोऽहमिति भावयति। कुत इत्यत आह, मायेति। उहाँ=अज्ञाने मृषाभूते देहादौ सत्यत्वं पूर्णमेव। दादुर=शिशूनां प्रियाणि कलभाषणानि, दामिनी=सकामता, पवन=वायुवच्चलं मनः, एते अपूरी=अपूर्णाः, दुःखदायिन इत्यर्थः।

---

१. गहीन।
२. कछु।
३. वहाँ।
४. कहा कोइ नहिं मानये, एक हिं माहँ समान।
५. वस्तुतः 'लोप' होना चाहिए, किन्तु मूल में ही 'अलोप' शब्द है। अ लोप=दर्शन। इस प्रकार, मूल और व्याख्या में विसंगति है।
६. पोथी में यह अक्षर काट कर दुरुस्त किया है; फिर भी अस्पष्ट है।

बरिसे इति। अज्ञानामहंता[1] स्त्र्यादिषु मेघवद्वर्षति, तपति [च], तापत्रयेणेत्यर्थः ।। रैनि=रात्रिवद्भयदं तारुण्यं, यत्र विचाराभावः। शवै इति। शवाः=मरणाज्ञानरूपाः, ए=सर्वे, लोग=वर्णाः, अविद्यया स्वात्मविद्यां बध्नन्ति अतोऽन्धाः=शवरूपाः। अतः कश्चिदपि श्रुतेरपि वचो न मन्यते; अतो (तः) शवत्वं=जीवत्वं प्राप्नुवन्तीति भावः ।। १६ ।।

आत्मतत्व को न जानकर केवल योग, जप, तप, ध्यान आदि का अनुसरण करने वाला व्यक्ति थक जाता है। जीव, गन्धर्व और मुनि भी बाह्य प्रकृति के व्यवहार का अन्त नहीं पा सकते, वे भी लिप्त रहते ही हैं। यही लोक-व्यवहार भी है।

इसी कारण वे भी हरि को दूर समझते हैं। आत्मविचार से हीन होने के कारण वे संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण इन त्रिविध कर्मों से अनेक योनियों में भ्रमण करते रहते हैं। अन्धकूप के समान यही अज्ञान दुःख का कारण होता है। तारुण्य में स्त्री आदि का सुख भी अज्ञानवर्धक है ही। यही अविद्या का बन्धन है, जो मरणतुल्य है। और यही पुनर्जन्म का कारण भी है।

रमैनी-१७

जस जिव आपु मिले अस कोई। बहुत धर्म सुख हृदये होईं ।।
जासों बात राम की कहो। प्रीति न काहू से निवही ।।
एकै भाव सकल जग देखो। बाहर परं सो होय विवेकी ।।
विषय मोह के बन्ध छुड़ाई। जहाँ जाय तहँ काट[2] कसाई ।।
आह[3] कसाई छुरी हाथा। कैसेहु आवे काटे माथा ।।
मानुस बड़े बड़ा होय आवा[4]। एके पंडित सर्वे[5] पढाया।
पठना पढहु धरहु जनि गोई। नहिं तो निश्चय जाहु बिगोई ।।

सुमिरण करहु राम के, छाँडहु दुख की आस।
तर ऊपर दे चाँपही, कोल्हू कोटि पचास[6] ।। १७ ।।

---

१. अहं-ता=अहकारः।
२. काटु।
३. आहि।
४. ह्वै आया।
५. सबहिं।
६. पचास।

जसेति । जस=यथा, कश्चित् स्वात्मारामोऽस्ति, तस्य तादृश एवात्मारामो यदि लभ्यते तदात्यन्तं धर्मः=स्वरूपनिश्चयस्तज्जन्यं सुखं च हृदि=बुद्धौ भवति । जासो=यस्य, राम की ब्राह्मण[९] बात=वार्ता, कही=केनचिद्विदुषा कथिता, तर्हि तत्प्रीतेर्निर्वाहः=निश्चयः कस्मादपि न भवति, मूर्खात् (मौर्ख्यात्) एकै इति । 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इति श्रुतिप्रतिपादितं वस्त्वेव सकलं=ज्ञात्रादित्रिपुटीरूपम्, बाहर=मायाविद्ययोः परं यद्वस्तु तद्विचार्य तदेव भवतीत्यर्थः ।

विषयेति । स एव ज्ञानी मुमुक्षून् विषयमोहरूपबन्धनान्मोचयतीत्यर्थः । स्वात्मविचारादन्यत्र, जहाँ=यत्र चित्तं गच्छति, कसाई=विषयवासनाहन्ता ज्ञानी तच्चित्तं स्वरूप एवाकृष्य तद्वासनां छिनत्ति । स एव ज्ञानी कस्मिन् ब्रह्मणि, चित्तमाकृष्य छिनत्ति । तथा विधो ज्ञानी; स एव कीदृशः ? छुरीति । छुरी=अज्ञानच्छेदकस्वरूपविचारः; हाथ=हस्ते, बुद्धौ यस्य; क्षुरहस्त इति भावः । कसहु इति । गुरुशुश्रूषाभक्तिसत्सङ्गादिना केनचिदपि साधनेन, माथा=मनोमस्तकभूतो योऽहंकारः—मनुष्योऽहं, ब्राह्मणोऽहमित्यादिरूपः, तं तीक्ष्णधारेण क्षुरेण मुनिश्छिनत्ति ।

सर्वयोनिषु मनुजो महान् । अतो मनुजभावं विहाय, बड़े=आत्मैवाहमिति भवेत् । पण्डितः=चिदात्मा स एव ज्ञात्रादीन्, पढ़ाया=प्रकाशयति ।

पठना इति । =स्वात्मविचारः तं कुरु । जनि गोई=न विस्मर्य इत्यर्थः । न हिं तो=यद्यात्मविचारं न करिष्यसि, तर्हि विगोई=संसृतिं प्राप्स्यसि । स्मरणेति । राम के=आत्मनः, स्मरणं—विचारं कुरु । दुःख्यहं सुख्यहमिति बुद्धिं त्यज । यद्येवं न मन्यसे तर्हि, ऊपर-अधः=ऊर्ध्वमन्तरिक्षे च यन्त्रस्थेक्षुकाण्डवद् भ्रमणं नानायोनिसम्भवदुःखं च प्राप्स्यसीति भावः ।। १७ ।।

चिदात्मा की चर्चा ज्ञानी से ही होती है, मूर्ख से नहीं । ज्ञानी ही मोहपाश से मुक्त करता है और व्यक्ति को स्वरूप में आकर्षित करके उसकी विषय-वासना का उच्छेद भी कर डालता है । अज्ञानोच्छेदी स्वरूप विचार उसका छुरा है और मैं मनुष्य हूँ, ब्राह्मण हूं-इस प्रकार के माया-जनित अहंकार को वह अपने अनुभव की तेज धार से उच्छिन्न कर डालता है । ज्ञानी स्वयं चिदात्मा है । अतः उसका सहारा लेकर आत्मविचार करना ही श्रेयस्कर है, अथवा यन्त्र में रखे-इक्षुकाण्ड की भांति, नाना योनियों में उसे दुःख प्राप्त होगा ।

---

९. यह शब्द अनावश्यक है ।

रमैनी-१८

अदबुद पंथ बरनि नहिं जाई । भूले राम भुली दुनि आई ॥
जो चेतहु तो चेतहुई भाई । नाहिं तो जीव जम[1] ले जाई ॥
शब्द न माने कथे[2] ज्ञाना । ताते जम दीयो हे थाना ॥
संशय सावज ब से शरीरा । तै खाया[3] अनवेधा हीरा ॥

संसय सावज सरीर महँ, संग हि खेले ज्वारि ।
ऐसा घाइल[4] बापुरा, जीवहिं सा (मा) रे झारि ॥ १८ ॥

अदबुतेति । ब्रह्मादि पिपीलिकान्तः संसारमार्गः वर्णयितुं न शक्योऽस्ति । इदं नामरूपात्मकं सर्वं विश्वं रामः शुद्धस्वरूपं, सत्, भूली=मायाविद्याभ्यां, दुनि=द्वैतरूपप्रपञ्चवीथीषु वाई=[5] प्राप्तम्; जीवोऽहमीशोऽहमित्यादि भाति, भावयन्तीत्यर्थः । जो=यत्, शुद्धचैतन्यं तदेवाहमिति चेतहु=जानी । ई-[6] शब्दो मायावाचकः, अतस्तेन मायाविद्ययोर्ग्रहणम् । मायाविद्ययोर्भा=प्रकाशकः । नाहींति । यद्यात्मानं न ज्ञास्यसि, जोवत्वमेव मन्यसे, तर्हि यमः=अज्ञानवासना, ले=गृहीत्वा, जाई=नानायोनि भ्रमयिष्यतीति ।

शब्देति । शब्दम्=उपनिषद्वाक्यं मुखेन वदसि, मनसि न विचारयसि । ताते इति । तस्माद्यमवद्दुःखदौ रागद्वेषौ बुद्धौ स्थानं करिष्यतः । संशयेति । मनुष्योऽहं ब्रह्म कथं भविष्यामीति विचारः संशयः । स एव सावज इति भावनया जीवहंतृवध्यविषयः हरिणादिपशुशुकसारिकादिपक्षिरूपः; स । यथा क्षेत्रगतमन्नं भक्षयति तथा ज्ञानवृत्तीनां भक्षकः संशय एव सावजः; देहत्रये आवज=आगत्य वसन्ति ते । तेन संशयेन अनबेधामायाविद्यारहितः, हीरा=रत्नवत्प्रकाशक आत्मा । स्वीयाज्ञानवृत्तीनां नाशः कृत इत्यर्थः । संशयेति । अस्मिन् शरीरे एव संशयरूपः पूर्वोक्तः सावजश्चिदात्मा सहैव खेले=क्रीडति । ज्वारि=यथोभौ पुरुषौ द्यूतेन क्रीडतस्तद्वदित्यर्थः ।

ऐसेति । इत्थं घायल=मनुष्योऽहं सुख्यहं, दुःख्यहं, दासोऽहमिति बापुरा=कृपया जीवत्वं मत्वा, झारि=सर्वान् जीवान् अज्ञानं हन्ति=स्वरूपावरणं

---

१. यम ।
२. चीन्हे कथये ।
३. खायलानवेघल ।
४. घाई ।
५. मूल में 'आई' है, किन्तु व्याख्या में 'वाई' लिया है ।
६. इसी अक्षर को देख कर मूल में 'रे' के स्थान पर 'ई' लिया है ।

करोति। 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः'। इति भगवद्वचनात् सन्देह एव सर्वनाशमूलमित्यभिप्रायः ।। १८ ।।

ब्रह्मा से पिपीलिका पर्यन्त इस वर्णनातीत संसार-प्रपंच में जीवभावना रहती ही है और माया तथा अविद्या से आच्छन्न होने के कारण व्यक्ति 'मैं राम ही हूं" यह भूल जाता है। उपनिषद् के "तत्त्वमसि" इस वाक्य का मुख से उच्चारण करने पर जीव उसकी यथार्थता नहीं समझता, अतः राग और द्वेष बुद्धि में स्थान पा जाते हैं, जो व्यक्ति में मनुष्यभाव उत्पन्न करते हैं। माया से आवृत होने के कारण दोनों चैतन्यों में सन्देह करने वाला व्यक्ति, एक मृग के समान यमराज का शिकार हो जाता है।

रमैनी-१६

अनहद अनुभव का करि आसा। ई विपरीत देखहु रे[1] तमासा ।।
इहै तमासा देखहु रे[2] भाई। जहाँ[3] शून्य तहाँ चलि जाई ।।
शून्य हि वंछे[4] शून्य हि गयेऊ। हाथा छाँडि बेहाथा भयेऊ ।।
संशय सावज सकल[5] संसारा। काल अहेरी साँझ सकारा ।।
स्मरण[6] करहु राम के, काल गहे हैं केस।
नहिं जानहु कब मारी,[7] क्या घर क्या परदेस ।। १६ ।।

अनहदेति ! अनहदः=प्राणघोषः। तस्य योऽनुभवः=विचारः, स एव ब्रह्मेत्याशां किमर्थं करोषि ? स्वयं चिदात्मापि स्वरूपं विस्मृत्य 'सोऽहमि'ति प्राणघोषमेवात्मानं मन्यसे। ई=इदं विपरीतम्=अशुद्धम्, तमासा=विज्ञानिमते परमाश्चर्यमिति भावः। इहै इति। रे मुमुक्षो, इहै=संसारे, तमासा=अज्ञाना-माश्चर्यकराणां स्थूलसूक्ष्मकारणजाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिविश्वतैजसप्राज्ञादीनां, भाः= प्रकाशकोऽसि, द्रष्टासीति यावत्। चिदात्मानं विहाय देहाभिमानरूपां शून्यतां कथं यासि ? यः शून्यं देहाभिमानं मन्यते स शून्यम्; शून्यप्रायासु नानायोनिषु गच्छति। हाथेति। हाथा=बुद्धिः; स्वात्मविचारं विहाय विहाथा। मनुष्योऽह-मित्यभिमानवती बुद्धिरज्ञानमूलमित्यर्थः।

---

१. ई देखहु विपरीत।
२. 'रे' अनावश्यक।
३. जहँवा।
४. बाँछे।
५. सब।
६. सुमिरण।
७. मारि है।

संशयेति। संसारा=इदं सकलं जगत्संशयरूपद्वैतयुक्तम्; सावज=वनचरवत्कालाधीनमसद्रूपं, क्षणिकमित्यर्थः। तदेवाह-कालेति। एषां ब्रह्मादितृणपर्यन्तानां मरीचिकेव मिथ्यानामरूपयुतानां, कालः=परमाण्वादिपरार्धान्तरूपः सूर्योदयास्ताभ्यामायुर्हरतीत्यर्थः। तदुक्तं भगवतार्जुनं प्रति 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः'। इति।

स्मरणेति। भो मुमुक्षो, राममात्मानं स्मर=विचारय। यद्यस्य देहस्य सत्यत्वं मन्यसे, तर्हि कालः, केश=कश्च, ईशश्च, क=ब्रह्मणः ईशो विराट्; तौ कालो भक्षतः (ति)। तदादीन्स्त्रिगुणजान्विकारान् हरति। तस्मात्त्वं न जानासि गृहे वा वने वा, स्वदेशे परराष्ट्रे वा, आखुं विडालवद्देहं भक्षयिष्यति। अतः स्वात्मविचारं कुरु; तेन कालोदयस्त्वय्येव लयं प्राप्स्यति[८]। स्वात्मानं ज्ञात्वा निर्भयोभवेत्युपदेश इति भावः॥ १९॥

व्यक्ति स्वयं चिदात्मा है, फिर भी वह अनहद (प्राणघोष) को ब्रह्म मानता है। यह आश्चर्य का विषय है। वह स्वयं स्थूल-सूक्ष्म का कारण और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, विश्वतैजस; प्राज्ञ आदि का प्रकाशक हो कर देहाभिमानरूप शून्यता को क्यों प्राप्त होता है? यही शून्य प्राय नाना योनियों में भ्रमण का कारण है। चैतन्य को भूलकर स्वयं को मनुष्य मान लेना-यह बुद्धि अज्ञानमूलक ही है और यही द्वैतरूप का कारण भी है, असद्रूप है, क्षणिक है। काल आयु हरण कर रहा है। अतः राम (आत्मा) का विचार करके निर्भय बन अन्यथा, स्वयं को देह मानने पर काल तुझे ले जायेगा-न जाने देश में या परदेश में। उस ने तेरे केश पकड़ रखे हैं। आत्मस्वरूप का विचार कर और निर्भय बन जा।

रमैनी-२०

अब[१] कहु राम नाम अविनासी। हरि छोड़ि जियरा कतहुं न जासी॥
जहाँ जाहु ताहाँ[२] होहु पतंगा। अब (ब) जनि जरहु समुझि विख (ष) संगा॥
राम नाम लव[३] लाय सो लीन्हा। भृंगी कीट समुझि लव[४] लीन्हा॥
भव अस गहु जे दुःख के भारी[५]। कुरु जिव जतन जे देखु विचारी॥
मन की बात है लहरि वे (वि) कारा। ते नहिं सूझे वार न पारा॥

---

८. मूल में 'प्राप्स्यन्ति' (अशुद्ध) है।
१. यहाँ पोथी में 'आव' लिखा है।
२. ताहां' लिखा है 'तहँ' चाहिए।
३. लौ।
४. मन।
५. भौ अति गरु जे।

**इछा (च्छा) करि भव सागर,[६] जा महँ बोहित राम अधार।
कहंहि कबीर हरि सरण गो,[७] खुर बछ विस्तार ॥ २० ॥**

अथ विदुषा स्वचित्तमेवमुपदेशितव्यमित्याह—अब कहु इति। भो चित्त, अब=इदानीं मनुष्यदेहं प्राप्य, रामः=सर्वचित्तक्रीडकः अविनाशी=नाशरहितो ऽहमिति कहु=विचारय। जियरा=हे जीव, हरिं त्यक्त्वान्यत्र न गन्तव्यम्। तत्रैव वासनालयं कुर्विति भावः। हरिं विना यत्र तत्र मृगतृष्णारूपे विषये गच्छसि तत्र तत्र दीपज्वालायां पतङ्ग इव दाहं प्राप्स्यसि। अवेति। अद्य मानुषं वपुर्लब्ध्वा वासनामूलेन मिलिताहंकारेण विषयाग्नौ मा दग्धो भव। समुझु=आत्मविचारं कुर्विति भावः। रामेति। रामः—आत्मनाम; सो लीन्हा= नाम-मात्रं माययैव गृहीतं जीवत्वमात्मनि, लौ लाय=लीनं कुरु। तत्र दृष्टान्तमाह, भृंगीति। यथा पेशस्कारिभृंगेण[८] स्वकुट्यां बद्धः कीटस्तत्संगात्तमनुसरन्स्तद्रूपो भवति तथा समुझि=विचारय। लव=बुद्धौ, लीन्हा=ग्रहीतव्यः। आत्मा द्रष्टव्य इति भावः। भवेति। जीवभावना बहुभारदा; दुःखदेत्यर्थः। जीव=अन्तःकरणं सत्संगेन, जतन कुरु=रक्षस्वेति भावः। यत्संगादात्मरूपं प्राप्य परमानन्दं द्रक्ष्यसि। मनोमात्रविलसिताः काव्यादिकथाः जलतरंगवत्; तेषां पारो न केनापि प्राप्त इत्यर्थः।

इच्छेति। वर्णी अहम्, आश्रमी अहम्, इत्यभिमानंकृत्वा भवसागरं तर्तुम्, बोहित=नौका, रामः=आत्मैवाधार इति ब्रुवन्ति। तथापि न प्लवन्ति, मनुष्योऽहमिति जडतायाः सत्वात् नौकया किम्? अतः कबीर=वेदाः गुरवश्चेत्थं वदन्तिसत्यं रामो नौका आत्मैवाहमिति हरिः, शरणं=समीपमैक्यं प्रापितो यैस्तेषां गोष्पदवदेव भवाब्धिर्भवति ॥ २० ॥

हे जीव, स्वयं को अविनाशी समझ कर अब राम के नाम का स्मरण कर। हरि को छोड़कर अन्यत्र कहीं मत जा। उन्हें छोड़ कर मृगतृष्णा में तू जहां कहीं भी जाएगा, दीपज्वाला में पतंगे की तरह तू विषयों में जल जाएगा। जीव-भावना दुःखदायी है। अतः जैसे भंवरे से बंधा कीट उसके पीछे चलता है, उसी प्रकार सत्संग से आत्मस्वरूप की पहिचान कर। इससे तुझे परमानन्द की प्राप्ति होगी। जीव-भावना दुःखदायिनी है। मैं वर्णी हूं मैं आश्रमी हूँ-यह अभिमान छोड़ कर राम रूपी नौका का सहारा ले। हरि शरण में जाने से तू इस संसार-सागर को पार कर सकेगा, जैसे बछड़ा गोपद को आसानी से लाँघ जाता है।

---

६. रे।

७. गहु गोखुर।

८. पेश=रूपान्तर; पेशस्कारि=रूपान्तर करने वाला (शब्दकल्पद्रुम)।

रमैनी-२१

बहुत (ते) दुःख दुःख की खानी । तब बचिहहु जब रामहिं जानी ।।
रामहिं जानि जुक्ति जो चलई । जुक्ति हि ते फंदा नहिं परई ।।
जुक्तिहि जुक्ति चला संसारा । निश्चय कहा न मान[1] हमारा ।।
कनक कामिनी घोर पटोरा । संपति बहुत रहे[2] दी (दि) न थोरा ।।
थोरे[3] संपति गो बोराई । धर्मराज की खबरि न पाई ।।
देखि त्रास गो मुख कुमिलाई । अमृत[4] धोखे गो विष खाई ।।

मे (मैं) सिरजो मे पारो,[5] मे जारो मे खाउ (उँ) ।
जल थल महिया[6] रमिर रह्यो, मोर निरंजन नाउँ (उँ) ।

बहुत दुःखेति । मनुष्योऽहमिति वासना बहुदुःखरूपास्ति, यस्या बहुदुःखदा नानायोनयो भवन्ति । अतःसर्वदुःखानामज्ञानस्वरूपा वासनैव खानिः=आकरः, उत्पत्तिमूलमित्यर्थः । तर्हि अस्याज्ञानस्यनिवृत्तिः कथमित्यत आह, तबेति । यदा रामः आत्मानं[7] जानाति, तदैव मलिनवासनाजन्यदुःखाद्विमुक्तो भवतीति भावः । रामहीति । आत्मानमेव ज्ञात्वा, जो=यत् ज्ञानं=तद्रूपा युक्ति; लोके प्रवृत्ता, विद्वद्भिरिति शेषः, युक्त्यैव देहोऽहमित्यविद्यायाः, फंदा=पारो न पतिष्यसीति भावः ।

युक्तिरिति । यदा चिदात्मैवाहमिति युक्त्यैव ज्ञानमुदेति, सदा संसारोऽपि स्वाज्ञानेन-मनुष्योऽहमिति कुयुक्त्या लोके प्रवृत्त इत्यर्थः, अतः गुरूणां वचः कश्चिन्न मन्यते, इत्याह निश्चयेति । शुद्धश्चिदात्माहमिति मे वचसि देहाभिमानिनो निश्चयं न कुर्वन्ति । कुत इत्यत आह, कनकेति । विषयेषु तन्तुपटवत्संयुक्ता इति भावः । सम्पद्=राज्यादिभोगा बहवः ! आयुरल्पम् । अतस्तदप्यसिद्धमित्यर्थः । स्वरूपानुभवरूपां सम्पदं विहाय, हैरण्यगर्भादिपदलाभाय धावत्यतो, बौराई=स्वात्मसुखहीनः, यतो धर्माणां वर्णोपयुक्तानां राजा= सम्पादकः, कर्ताहंकारः, तस्य खबरि=स्वरूपं न ज्ञातम्; ज्ञानाभावात् । यद्वा

---

१. मानु ।
२. रहल ।
३. थोरेंहि ।
४. गौः कुमिबाई अनरित ।
५. मैं, मारों ।
६. नभ में ।
७. 'राममात्मानं' चाहिए ।

धर्माणां चिदात्मैवाहमिति, देखीति=तस्याहंकारस्य प्रेरणान्नानायोनिषु गो=याति। मुख्य:-स्वयं चिदात्मा मुख्योपि वासनया जीवत्वं प्राप्य, तत्र त्रासं=दुःखं दृष्ट्वा, कुमिलाई=म्लानो भवति; स्त्र्यादिविषयसुखममृतं मत्वा भुनक्ति; तेनाज्ञानरूपं मरणं प्राप्नोति।

मे सिरजो इति। मय्येव (मत्त एव) सकलं जातम्; मय्येव सर्वं प्रतिष्ठितम्; मय्येव [च] सर्वं लयं याति-'तद्ब्रह्मास्म्यहमद्वयम्; इति श्रुतेरिति भाव:। जलेति। 'जले विष्णु: स्थले विष्णुर्विष्णु: पर्वतमस्तके। ज्वालमालाकुले विष्णु: सर्वं विष्णुमयं जगत्' इति श्रुते:, ज्ञानाग्निनैव सकलदाहे एको निरञ्जनो निर्मायस्तिष्ठामीति विचार: परमानन्दप्रापक इत्यभिप्राय:॥ २१॥

स्वयं को मनुष्य समझ लेना अज्ञानमूलक वासना का ही परिणाम है। वासना ही दुख की खान है। इसका अन्त राम-आत्मज्ञान से होता है। "मैं शुद्ध चिदात्मा हूँ" यह जानलेने पर मनुष्य-भावना अपने आप विलीन हो जाती है। कनक, कामिनी आदि को नश्वर जानकर भी मनुष्य हिरण्यपद प्राप्ति की आकांक्षा करता है और इस प्रकार वह वासना में अधिकाधिक डूबता जाता है। उसे जानना चाहिए कि ज्ञानाग्नि सब कर्मों को भस्म करके उसे उस सर्वव्यापी पद पर पहुंचाती है जो संसार की उत्पत्ति, पालन और संहार का कारण है।

रमैनी-२२

अलख निरंजन लखै न कोई। जेहि बंधे सब कोई॥
जेहि झूठे बंधायो आना[१]। झूठि बात सांच के जाना[२]॥
धंधा बंधा किन्ह[३] व्यवहारा। कर्म विवर्जित बसे निनारा[४]॥
षट् आश्रम अव दर्शन[५] कीन्हा। षड् रस बास षटे वस्तु चिन्हा॥[६]
चारि वृक्ष छव[७] शाखा बखाने। विद्या अगनित गनै न जाने॥

---

१. बन्धाय अयाना।
२. माना।
३. धन्धा वन्धा किन।
४. निआरा।
५. दर्शन औ आश्रम।
६. षट रस बात षट वस्तुहि चीन्हा।
७. छौ।

अवरो[८] आगम करे विचारा। ते नहिं सूझे वार न पारा॥
जप तप तीर्थ धर्म कीजे बह पूजा[९]। दान पुण्य औ कीजे बहूता॥

मंदिर तो नेह को, मति कोइ पैठे धाई।
जो कोई पैठे धाइके, बिनु सिर सेंतिहीं जाई[१०]॥

अथ निर्मायस्वस्वरूपज्ञानाभावात्सर्वे वर्णाश्रमा: विद्याभिमाने: (सर्वे)[११] मुह्यन्तीत्याह, अलखेति। अलख=अलक्ष्यं, बुद्ध्याद्यप्राप्यं, निरंजन=अञ्जनं माया, तच्छून्यं वस्तु न कोऽपि पश्यति। अत आत्मज्ञानं विना, जेहि=ये जना:, हि-निश्चयम्, मनुष्योऽहमिति बन्धने सर्वे बद्धा इत्यर्थ:। जे=ये स्त्रीसुतकलत्रादयस्तेऽसन्त एव ममत्वेन बध्नन्ति। झूठी बात इति। कुलाचारादिधर्ममसद्रूपमेव सत्यं मन्यन्ते। धंधेति। ऐहिकामुष्मिक सुखाय कर्म कृत्वा व्यवहारे सर्वे बद्धा:। आत्मा तु कर्म रहितो भिन्न:। कर्मणा न प्राप्यते इत्यर्थ:। 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशु'रिति श्रुते:।

षडाश्रमेति। ब्रह्मचर्यादिन्यासान्ताश्चत्वार:, हंस-परमहंसौचेति षडाश्रमा:। षड्दर्शनानि ज्ञानसाधनानि शास्त्राणि मीमांसकादीनि[१२] च। तत्रात्मज्ञानं विना रमन्ते षट्शास्त्रवादिन:। आत्मज्ञानं विना षड्सेष्वेव वसन्ति; तदेव निश्चयरूपं मन्यन्ते इत्यर्थ:। चारेति। चत्वारो वेदा एव वृक्षा:; तेषां षट्शास्त्राण्येव शाखा: बखाने=वदन्ति। अन्या: अपि, अगनित=बह्वय: कोशकाव्यादयो विद्या: अभ्यस्यन्ति। आत्मज्ञानं विना तेषु शान्ति न लभन्ते इत्यर्थ:। अवरो इति। आगम: मन्त्रविषयादि:; तत्रापि विचारयन्ति। आत्मज्ञानं विना यस्य पारो न, तद्विचारेण किं सुखमिति भाव:। जप तपेति। जपतपादीनि स्वात्मज्ञानं विना कुर्वन्ति, तथापि शान्ति न लभन्ते। 'तपन्तु तापै: प्रपतन्तु पर्वतादटन्तु तीर्थानि पठन्तु चागमान्। यजन्तु यागैर्विवदन्तु योगैर्हरिं विना नैव मृतिं तरन्ति इति श्रीधरयतीन्द्रोक्तेरिति भाव:।

तत्र हेतुमाह, मंदिरेति। मन्दिरं=वासना, सर्वविषयाणामावास:। नेह=सुतकलत्रादिषु मृषारूपेषु। मतीति। कश्चिदपि मा पैठै=मा प्रविश्य, ता धाई=सकामो मा भव। यदि स कामो वासनां प्रविशसि, तर्हि, बिनु शिर-

---

८. औरो।

९. जप तीरथ व्रत कीजै पूजा।

१०. बिनु सिर सेंतिहि जाय। (सेंति=व्यर्थ)।

११. भ्रम से यह शब्द दो बार लिखा है।

१२. मीमांसा, वेदान्त, न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग।

सेति=शिरो मुख्यमात्मज्ञानम्, तद्विनाऽज्ञानं यास्यसि, तेन दुःखं प्राप्स्यसीति भावः ॥ २२ ॥

स्वरूप-ज्ञान न होने के कारण विद्याभिमान से मोहित व्यक्ति का ध्यान अलख (बुद्धि आदि से अगम्य) तथा निरंजन (माया से रहित) वस्तु की ओर नहीं जाता। इस प्रकार, वह स्त्री, बाल-बच्चों और परिवार आदि के ममत्व में बँध जाता है। ऐहिक और आमुष्मिक सुख के लिए वह कर्म करता रहता है। वह नहीं जानता कि आत्मा इन सब से भिन्न है और कर्मरहित है। दूसरी ओर शास्त्रवादी आश्रम और शास्त्र को प्रमुख समझ कर, जप-तप, योग, इन्हीं में लिप्त रहता है। वह भी नहीं जानता कि इन सबका उत्तमांग आत्मज्ञान ही है। वहां तक इन लोगों की पहुंच ही नहीं है।

रमैनी-२३

अल्पे सुख दुख आदि औ अन्ता। मन भुलान मैगर में[1] मन्ता॥
सुख बिसराइ मुक्ति कहाँ पावै। परिहरि साँच झूठ निज[2] धावै॥
अनिल ज्योति डहे[3] एक अंगा नयन नेह जस जरे पतंगा॥
करहु विचार जे सभ[4] दुख जाई। ई परिहरि झूठ[5] केर सगाई॥
लालच लागे जन्म सिराई। जरा मरण नियरायल आई॥

भ्रम के बाँधल ई जग,[6] एहि विधि आवे जाई।
मानुष जन्म पाय के, नल काहे ते जहडाई॥[7] ॥ २३ ॥

अल्पेति। रूपादिसुखमल्पम्, यत आद्यन्तम्, अतो नानायोनिभ्रमणादमित्यर्थः। मन इति। मे मन्ता=मतः। मेगर=हस्ती यथा कृत्रिमकरिणीं दृष्ट्वा गर्ते पतति, यथा भुलान=भ्रमतीत्यर्थः। सर्वं विषयसुखं दुःखमेव। तदुक्तं श्रीमद्भागवते प्रह्लादेन-'यन्मैथुनादि गृहमेधि सुखं हि तुच्छं कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम्'। इति। सुखेति। सुखमात्मज्ञानं विस्मृत्य मुक्तिः कथं प्राप्या, यतः सत्यम्=आत्मस्वरूपं परिहरि=विहाय, निजचिद्रूपो जीवः झूठ=देहोऽहमित्यज्ञानेन धावति।

---

१. अलपे, हुं, मैं मन्ता (अहंता करने वाला अभिमानी)।

२. कहँ।

३. अनल जोति दाहै।

४. करु विचार जे सब।

५. परिहरि झूठा केर।

६ जगत।

७. मानुष जन्म हि पाई नर, काहे को जहड़ाए।

अनिलेति । अनिलः प्राणवायुः, ज्योतिः=आत्मनः एकाङ्गभूता विद्या, दहे=आत्मज्ञानं नाशयति । नयनेति । नेह=दारापुत्रादिविषयं दृष्ट्वा, दीपार्चिषि रूपं दृष्ट्वा पतङ्गवत्पतति । तदुक्तं श्रीमद्भागवते अवधूतेन यदुं प्रति—'कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्गमीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च । एकः प्रमादी स कथं न हन्यते यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च ।।' इति । तस्मात्पञ्चविषयभोक्ता जीव आत्मज्ञानाद्रहितो भवतीत्यर्थः । अत आत्मविचारं कुरु येन सर्वदुःखमूलं मनो नश्यति; मनोनाशेनैव सर्वदुःखनाशात् ।

ई परीति । ई=देहदारादिभोगानां, सगाई-प्रीतिं, झूठ केर=मिथ्या मत्वा, परिहृत्यात्मानं बुध्यस्वेति भावः । लालचेति । लोभादेव सकलं जन्म सिराई=गतम् । जरामरणं च नियरायल=समीपं, आई=प्राप्तम् ।

भ्रम के इति । जगदिदं द्वैतरूपं, रज्जौ सर्प इवेन्द्रजालवच्च भ्रममात्रमसत् । अविचारिणस्तु सदेव मत्वा बद्धा अनेन आवे जाई=जन्ममरणं च प्राप्नुवन्ति । हे नराः, नरश्रेष्ठं मानवं जन्म प्राप्यात्मज्ञानं कथं जहड़ाई=विस्मरसि ? अत आत्मैव मनुष्यजन्म लब्ध्वा ज्ञातव्यः । 'नायं देहो देहभाजां नृलोके कष्टान्कामानर्हते विड्भुजां ये । तपो दिव्यं पुत्र कायेन सत्यं शुद्धयेद्यस्मात् ब्रह्म सौख्यं त्वनन्तम्' । इति श्रीमद्भागवते पुत्रान् नृषभोक्तेरिति भावः ।।२३।।

विषय-सुख अल्प होता हैं, उसके आदि और अन्त भी दुःखमय हैं । योनियों में भ्रमण का यही कारण है । मन रूपी हाथी इसी में मस्त रहता है । आत्म-ज्ञान ही सच्चा सुख है । उसी से मुक्ति होती है । उसे छोड़कर चिद्रूप जीव देह में अभिमान करता है और पुत्र, दारा आदि के स्नेह में पतंगा बन जाता है । अतः आत्म-विवेक द्वारा दुःखमूल मन को वश में करके जन्म-मरण का अन्त करो । द्वैतरूप संसार रज्जु में सर्प के समान भ्रम है, असत् है, और जन्म-मरण का कारण हैं । आत्मज्ञान अविस्मरणीय है ।

रमैनी-२४

चन्द्रचकोर की ऐसी[1] बात बनाई । मानुष बुद्धि दीन्ह पलटाई ।।
चारि अवस्था सपने कहई । झूठो फूरो जानत[2] रहई ।।
मिथ्या बात न जाने कोई । एहि विधि सर्व[3] गेल बिगोई ।।
आगे दे दे सर्वन्हि गमाया । मानुष बुधि की सपनेह पाया ।

---

१. अस । 'को'-अनावश्यक एवं अतिरिक्त ।
२. मानत ।
३. सब ।

चौंतीस अक्षर से[४] निकले जोई । पाप पुण्य जानेगो[५] सोई ।।
सोई कहते सोई हो उगे, ते[६] निकलिन बाहेर आव ।
हौं हजूर ठाढ़ कहत हों, ते काधों के जन्म गमाव[७] ।। २४ ।।

चन्द्रेति । चन्द्रवत् भूतादिषोडशकलायुतः सर्वतापनाशक आत्मा, चकोरवदङ्गाररूपविषयभोक्तृ मनः इति वेदा वदन्ति । मानुषेति । देहोऽहमिति मानुषी बुद्धिः 'तत्त्वमसीत्यादि वाक्यैः श्रुत्या परिहृता । जाग्रदादिचतस्रोऽवस्थाः कथिताः, तदपि स्वप्नवदसदेव । झूठा=देहादि, फूरो=असत् आत्मा । इदमेव जिज्ञास्यमित्यर्थः । कोई=कश्चिन्मुमुक्षुः, मिथ्या बात=सकामवाणीं पुष्यातां (?) न जाने=न तत्रासक्तो भवति । एहि विधि=अनेनैव विषयभ्रमज्ञानप्रकारेण सर्वे बिगोई=भ्रान्ता इतिभावः । आगे=पूर्वं षट्शास्त्रवादिभिः पुराणकथकैश्च स्वबुद्धिकल्पितमुपदेशं दत्वा, सर्वन्हि=सर्वसारमात्मानं, गमाया=नाशितम् । स्वरूपाद्रहिताः सर्वे जनाः कृता इत्यर्थः । मनुष्योहमिति स्वप्नवदसद्बुद्धिं स्वीकृत्य नानायोनीः प्राप्नोति ।

कीदृशो देह इत्यत आह—चौंतीसेति । अक्षरः=आत्मा । तस्मादेव चतुस्त्रिंशगुणयुतोदेहो भवति । तान्याह—इन्द्रियदशकं, प्राणापानव्यानोदानसमाननागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयाभिधप्राणदशकं, भूततन्मात्राः पञ्च, पञ्च भूतानि चेति दशकम्, अन्तःकरणचतुष्टयं चेति । यद्वा ककरादि क्षान्तैश्चतुस्त्रिंशद्वर्णै रेवोत्पन्नो देहः, वाणीद्वारैवास्य वर्णनम् वस्तुतस्तु न सत्यत्वमवस्तुत्वादिति भावः । सो=आत्मना कल्पितः ई=देहः पापेन तिर्यग्योनिं, पुण्येन देवयोनिं, मिश्रेण मानवीं योनिं याति । चित्संयोगादेवास्य सुखं दुःखं च भवतीति भावः ।

सोईति । आत्मविचारेणात्मैव भवति । 'स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थित' इति भगवद्गीतोपनिषद्वदति । आत्मविचारात्संसार पर्यावर्तो न भवतीति सर्वेषाम्, हुजूर=समीपे, ठाड़=स्थित्वा श्रुतिः प्रथयति ।[८] अतः धोखे=असावधानः सन्मानवं जन्मकिं क्षपयसि ? इदमेव जन्म सारम[९]स्मिन्विज्ञानहीनस्तिष्ठति, स आत्महोच्यते । 'नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।

---

४. अधर से ।
५. जानैगा ।
६. सोइ; 'ते' अतिरिक्त ।
७. धोखे न जन्म गमाव ।
८. 'अथयति' लिखाहै, जो अशुद्ध है ।
९. 'इति मत्वा' (धोखे से देह जन्म को सार मान कर) यहां पढ़ने से वाक्य की सुसंगति हो जाती है ।

मायानुकूलेन नभस्वतेरितं पुनर्भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा ।।' इति श्री मद्भागवते उद्धवं प्रति भगवदुक्तेरिति भावः ।।२५।।

वेदों में कहा है कि सोलह कलाओं से पूर्ण और सब ताप दूर करने वाला आत्मा चन्द्र के समान है और रूप एवं विषय का भोक्ता मन चकोर है। यह मन "तत्त्वमसि" इस उपदेश को भूलकर देह आदि को आत्मा मान लेता है और सकाम कर्म की वाणी में फँस जाता है। इस प्रकार, वह स्वयं को मनुष्य मान कर भ्रान्त हो जाता है। आत्मा अक्षर है और वही दस इन्द्रियां, दस प्राण, पंच महाभूत, पंच तन्मात्राएँ और अन्तःकरण का उत्पत्ति का कारण भी है। देह भी पाप, पुण्य और इन दोनों के मिश्रण से क्रमशः पशु-पक्षी, देव और नर की योनि धारण करता है जिसे चैतन्य के संयोग से दुःख और सुख प्राप्त होते हैं। यही आत्म-विचार मनुष्य को पुनर्जन्म से छुड़ाता है। इस प्रकार सोचने से संसार का पर्यावरण नहीं होता।

रमैनी-२५

चौंतिस अक्षर को इहै विशेषा। सहस्त्रो नाम एहि[1] महँ देखा।
भूलि भटकि नल[2] फिरि घट आया। होता[3] जान सो सभन्हि गमाया ।।
खोजहिं ब्रह्मा[4] विष्णु शिव शक्ती ! अनंत लोक खोजहिं बहु भक्ती ।।
खोजहिं गण गंधर्व मुनि देवा। अनंत लोक खोजहिं बहु सेवा ।।

जती सती सभ खोजहिं, माने न मन महँ हारि।
बड़ बड़ जीव न वाच हे,[5] कहहिं कबीर पुकारि ।। २५ ।।

चौंतिसेति। चतुस्त्रिंशद्वर्णरूपवाण्या ब्रह्मैव निश्चितं, न कोऽपि विशेषः। यद्वा चतुस्त्रिंशत्तत्त्वकर्ता अक्षरः=क्षेत्रज्ञः स एव वाणीषु वर्णित इति सहस्रनाम। अनेकनामसु ग्रन्थेषु क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः प्रकाशक आत्मैव दृष्टः सर्वत्र। स एवालोच्य इत्यर्थः।

भूलीति। यदा परोक्षं श्रुत्वा, स्मृत्वालोच्य [च] बहिरात्मनोऽप्राप्तिर्भवति तदा 'समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' गुरुमुपगम्य वदति—'सद्गुरो आत्मानं

---

१. सहसो; याहि।
२. नर।
३. हता।
४. ब्रह्म।
५. वाँच हीं।

ज्ञापय' इति । ततस्तदुक्तं 'तत्त्वमसी'ति विचाय, फिरि घट=निजात्मनि, आया =आत्मानं जानातीति भावः । ननु तर्हि आत्मा नष्टवस्तुवत् प्राप्यः स्यात् ? नेत्याह, होतेति । होता जान='सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' इति पूर्वसिद्ध एवात्मा; सः देहोऽहमिति बुद्धया विस्मृत्य, गमाया=कण्ठस्थमणिवन्नष्ट इव जातः, असावधानत्वादिति भावः ।

एवमात्मानं ब्रह्मादयो मृगयन्तीत्याह, खोजेति । ब्रह्मा, विष्णुः शिवश्च, तेषां शक्तयः सावित्र्यादयश्चात्मानमेव शोधयन्ति । अनन्तलोकेषु ये साधवस्तेप्यात्मानं भजन्ति । गण=साध्यादयो गन्धर्वाः, मुनयः, देवाश्च सर्वे आत्मानं विचिन्वन्ति । यतिः—संन्यासी, सती=सत्यपराः पुरुषाः, यावन्मनोवृत्तिगमनं, तावदात्मानं विचारयन्ति । मनस्यालस्यं न कुर्वन्ति । बड़ बड़=महान्तो धीराः जीव=जीवत्वं न बाँचही=वचः-परिभाषणेनोच्चारयन्ति । 'सर्वं ब्रह्मेति निश्चयात् । कबीरः=श्रुतयो 'नेति नेति' इति द्वैतं निषेधयन्ति । पुकारि के=घण्टाघोषवच्छ्रुतिशिरोभागभूतादुपनिषदः आत्मस्वरूपं वर्णयन्तीत्यभिप्रायः ।। २५ ।।

वर्ण-माला के कुल चौंतीस अक्षर ब्रह्म को ही निश्चित करते हैं (अथवा चौंतीस तत्व का उत्पादक अक्षर-ब्रह्म ही है) । आत्मा स्वयं द्रष्टव्य (समक्ष) है, परोक्ष नहीं । "तत्त्वमसि" इस वाक्य के विचार से ही उसका ज्ञान होता है और उसका ज्ञान होने पर "मैं देह हूं" यह भावना विलुप्त हो जाती है। इसी आत्मा की खोज त्रिदेव, उनकी शक्तियाँ साधुजन, देवगण, सन्यासी आदि सभी करते हैं और "नेति-नेति" कह कर, द्वैतभाव का निषेध करते हैं, जैसा कि उपनिषदों और वेदों में भी निरूपित किया ही है ।

रमैनी-२६

आपे कर्ता भयो कुलाला । बहु विध बासन घड़े कुँभारा ।।
विधि ने सर्व किया इक ठाऊँ । अनेक जतन के बानक बानू[1] ।।
जठर अग्नि महँ दीन्ह प्रजारी । ता महँ आप भा (भ) या प्रतिपारी ।।[2]
बहुत जतन से बाहर आया । तब शिव शक्ति नाम भनाया ।।
घर के सुत जो होय अयाना । ताके संग न जाय सयाना ।।
साँची बात कहौं मैं अपनी । भया दिवाना अवर का पुनी[3] ।।

---

१. बने कनाऊँ ।
२. प्रतिपाली ।
३. और कि सपनी ।

गुप्त प्रकट है एकै दूधा। कासो कहिए ब्राह्मण शूद्रा[४] ॥
झूठे गर्व भूलि मत कोऊ। हिन्दू तुर्क झूठे कुल दोऊ ॥
जिन्हि एहि चित्र बनाइया, साँचा सो सूत्रधार।
कहहिं कबीर तेइ जन भले, जो चित्रवंतहिं ले विचार[५] ॥ २६ ॥

आपे इति। मायाऽविद्या च स्वयमेव भवति। तद्द्वारा सर्वं विश्वमुत्पद्यते। तथापि कुलालवदात्मा उपादानकारणं भूत्वा कर्तोच्यते यथा कुलालः एकस्या मृदो नानाकारं घटादिकं करोति तद्वदित्यर्थः। विधीति। कर्मणैव, एक ठाऊँ= लिङ्गदेहः क्रियते। अनेकेति। अनेकजन्मभिः पुण्यपापकर्मभिश्च वानक=सञ्चितम्, बानू=प्रारब्धक्रियमाणरूपैर्वासनाबीजयोगात्, पुनर्मातृदेह=जठराद्देहः; प्रजारी=मृद्भाण्डवत्पक्वो भवति। ता महेति। तस्मिन्स्थूलदेहे चिदात्मा प्रविश्य देहं पालयति! अनेकयत्नाद्धरिं त्यक्त्वा यदा गर्भाद्बहिरागच्छति, तब=तदा, शिवेति=स्त्रीपुंनाम प्राप्नोति धरेति। धर=शरीरस्य सुतसंयोगाच्चिद्रूपो भवति; अयाना=आत्मानं विस्मृत्य, स्त्र्यहं पुमानहमित्यभिमन्यते। अतः ताके इति। सयाना=विद्वान् देहाद्यसत्सङ्गेन न गच्छति।

साँचीति। आत्मस्वरूपं सत्यं वदामि। दिवाना=निरभिमानोयो जातसोन्यद्वैतं पुनर्न पश्यति। कुत इत्यत आह-गुप्तेति। गुप्त=अपञ्चीकृतभूतानि; प्रकट=पञ्चीकृतभूतानि; उभयं प्राणिजातेषु श्यामकपिलागोदुग्धवत्समानमेव। अतो ब्राह्मणादिवर्णभेदो नास्तीत्यर्थः। झूठे इति। अहं ब्राह्मण इत्यभिमानं मृषा मा कुरु। चिदात्मनि यवनतद्भिन्न जातिकथनं मृषैवेति भावः। येन चिदात्मना सर्वं विश्वं चित्रवत् कृतम्, सूत्रे मणिसमूह इव सर्वत्र व्याप्तः स एव सत्य इत्यर्थः।

कबीर=श्रुतय एवं वदन्ति त एव धन्याः, परमहंसा जनाः, भले=साधवः, सन्तः। ये चित्रवन्तः, हि-निश्चयः। चित्रकर्तारं चिद्रूपमात्मानं विचार्य ले, ला-आदाने गृह्णन्ति आत्मनामानं विचार्य शान्ति प्राप्नुवन्तीत्यभिप्रायः॥ २६ ॥

परमात्मा ने कुंभकार की तरह, विविध वर्ण, आकार और प्रकार के बर्तन बनाए और उन सबको एकत्र करके अपनी जठराग्नि में पकाया। वही इस संसार का उपादान कारण भी है, लिंग शरीर बर्तन हैं, जिनमें उसने चिद्रूप से प्रवेश किया। यह जानने वाले सुधीजन शरीर और लिंगभेद (स्त्री-पुरुष) का अभिमान नहीं करते। काले और पीले वर्ण की गायों का दूध एक-वर्ण का ही होता है। इसी प्रकार वर्ण-भेद या हिन्दू और

---

४. शूधा।

५. जे चित्रहिं लेहि विचार।

यवन का भेद मानना भी वृथा ही है। परमात्मा, चितेरे द्वारा निर्मित चित्रों या मणियों की माला में धागे की तरह सर्वत्र अनुस्यूत है, वही सत्य है। फिर ब्राह्मण और शूद्र किसे कहा जाय? यह समझने वाले ही साधु हैं।

रमैनी-२७

ब्रह्मा[१] के दीन्हों ब्रह्माण्डा। सात द्वीप पहुमी नव[२] खंडा।।
सत्य सत्य के विष्णु दिढ़ाई। तीनि लोक सह राखिन्हि[३] जाई।।
लिंग रूप तब शंकर कीन्हा। धरती खीलि[४] रसातल दीन्हा।।
तब अष्टांगी रची कुमारी। तीनि लोक मोहिनि सर्व झारी।
द्वितीया नाम पार्वती भयेऊ। तब[५] कर्ते शंकर कहँ दियेऊ।।
एके[६] पुरुष एके है नारी। ताते रचिनि खानिभव[७] चारी।।
सर्पन वर्पन[८] देव औ दासा। रज[९] गुण तम गुण धरति अकासा।।

एक अंड ॐकार ते, सर्व जग भया पसार।
कहहिं कबिर सर्व नारि राम की,[१०] अविचल पुरुष भर्तार।। २७ ।।

ब्रह्मेति। ब्रह्मशब्देन पिण्डब्रह्माण्डाधिपौ विश्ववैश्वानरौ। सप्तद्वीपवती पहुमी=पृथ्वी, यस्यां नवखण्डानि जम्बूद्वीपमध्ये प्रसिद्धानि। सा भूमिरण्डान्तर्गतैव। उभयोरपि विश्वात्मैक्यम्। विष्णुः=गुरुरुपदिशति। यद्वा विष्णुर्वेदः। तीनि लोक=स्थूल-सूक्ष्मकारणदेहेषु विश्ववैश्वानरयोऐक्यम्, तैजसहिरण्यगर्भयोरैक्यम्, प्राज्ञाव्याकृतयोरैक्यम्।

राखिन्हि-त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्। तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः।।' इति श्रुत्या देहादित्रितयस्य लयं कृत्वा तत्पर-

---

१. को।
२. नौ।
३. महँ राखिन।
४. खिला।
५. सो।
६. एकहिं।
७. रची खानि भौ।
८. शर्मन वर्मन।
९. सत।
१०. सब नारि के। 'राम की'—अतिरिक्त पद है।

मात्मानं जानीयादित्यर्थः। तल्लयप्रकारमाह लिङ्गेति। स्थूलं सूक्ष्मे लीनं कृत्वा तथा विश्ववैश्वानरौ तैजसहिरण्यगर्भयोर्विलोप्य, तौ च प्राज्ञाव्याकृतयोर्विलोप्य, तथा धरतीति-जाग्रदवस्थां स्वप्ने विलोप्य, धरती-बुद्धिसंहितां स्वप्नावस्थां रसातलप्रायगूढस्थाने सुषुप्तौ विलोप्य, तेभ्यः परश्चिन्मात्र ग्रात्मैव तिष्ठतीत्यर्थः।

एवं लयमुक्त्वा बालवत्क्रीडावशात्सृष्टिप्रकारमाह-तवेति। ग्रष्टाङ्गीभूम्याद्यष्टकयुता कुः=ग्राधारः=ग्रात्मस्वरूपं, तस्य मारिका=नाशकर्त्री प्रवृत्तिर्भवति। सा द्विधेत्याह, तीन्होति। स्थूलसूक्ष्मादिदेहत्रयम्, ग्रवस्थात्रयम्, भोक्तृत्रयं च साधनमादाय, झारी=सर्वाञ्जीवान्मोहयति साऽविद्यैकाऽद्वितीया।

पर्वतसमादात्मनो भवतीति पार्वती, माया, ईशमोहिनी भवति। सो कर्तेति। तदा शंकरः=शं=सुखं करोतीति शङ्करः। कूटे मायायाः परं तिष्ठति। माययेश्वरत्वमविद्यया जीवत्वं चात्मनो भवतीति भावः।

एके इति। एवं सुषुप्तिप्रधानाऽविद्या, बुद्धिप्रधाना विद्याइत्युभे नार्यविके एव। जीवेश्वरौ पुरुषौ चैकावेव। 'ग्रजामेकाम्' इत्यादिश्रुतिमानादित्यर्थः। तद्द्वारैव चतुर्विधसंसारोत्पत्तिः। सर्पन=ग्रण्डजाः, वर्पन=स्वेदजादित्रयं रजोगुणाद्य विधैव। एक ग्रण्डेति-प्रणवादेव विश्वोत्पत्तिः। कबीरवेदाश्चैवं ब्रुवन्ति। रामः=ग्रात्मा; तस्यैवेमाः शक्तयः। स एवाचलः=पूर्णः। मायाऽविद्याया भर्ता=पोषकः प्रकाशकश्च। स एव चिन्त्य इत्यर्थः॥ २७॥[1]

(इस प्रकार सृष्टि उत्पन्न करके) परमात्मा ने पिण्ड ग्रौर ब्रह्माण्ड के ग्रधिपति विश्व-वैश्वानर रूप ब्रह्मा को सात द्वीप ग्रौर नौ खण्डों वाली पृथिवी का ग्रधिपति बनाया ग्रौर विष्णु को उस पृथ्वी का रक्षक। इस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म ग्रौर कारण तीनों शरीरों में विश्व ग्रौर वैश्वानर का, तैजस ग्रौर हिरण्यगर्भ का, तथा प्राज्ञ ग्रौर ग्रव्याकृत का ऐक्य है। इन तीनों से विलक्षण कूटस्थ, निरंजन ग्रौर साक्षात् चिन्मात्र सदाशिव हैं, जो इन सब के परे हैं। केवल उन्हें छोड़कर सब को माया मोहित करती है। इस प्रकार, सुषुप्ति-प्रधान माया या ग्रविद्या, ग्रौर, बुद्धिप्रधान विद्या ये दोनों नारीरूप हैं, ग्रौर जीव तथा ईश्वर रूप पुरुष ये दोनों नर हैं। इनके संयोग से ग्रण्डज, स्वेदज, उद्भिज ग्रौर-जरायुज-ये चार प्रकार के जीव उत्पन्न होते हैं। कबीर यहाँ वेदों के कथन की दुहाई देते हैं, जिस के ग्रनुसार, माया ग्रौर ग्रविद्या राम (परात्पर ब्रह्म) की ही शक्तियाँ हैं। वह पूर्णरूप है ग्रौर माया ग्रौर ग्रविद्या का पोषक ग्रौर प्रकाशक है। उसी का विचार (चिन्तन) करना योग्य है।

---

१. ग्रर्थ भेद के लिए देखिए—सं बी. ब (रमैनी-२७),

रमैनी-२८

अस जोलाह[1] के मर्म न जाना । जिन्हि जग आय[2] पसारन्हि ताना ।।
धरती आकाश दुइ[3] गाड़ खनाया । चाँद सुरज दुइ[4] नरी बनाया ।।
सहस्र तार ले पूरण[5] पूरी । अजहु बीने[6] कठिन है दूरी ।।
कहँहि कबीर कर्म से जोरी । सूत कुसूत बीने[7] भल कोरी[8] ।।

अथ जीवेशयोरज्ञानविस्तारप्रकारं तन्तुवायरूपेण दृढयति,-असेति । **अस**= अस्य, जोलाहा=तन्तुवायः । तद्वदात्मनो मर्मस्वरूपमज्ञात्वा देहाभिमानादीशित्वाभिमानाच्च जीवेशौ प्रपञ्चविस्तारं कुरुतः । विस्तारप्रकारमाह जिन्हीति । विश्ववैश्वानरादिभोक्तॄन्कल्पयित्वा तद्भोगसिद्धये नानादेहरूपादीनि, ताना पटतन्तुवद्विस्तारितेत्यर्थः ।

तत्र साधनमाह धरतीति । यथा तन्तुवायस्य पटनिर्माणसमये पाददृढीकरणार्थं गर्तद्वयं भवति, एवं द्यावापृथिव्यौ संसाररूपपटविस्ताराय साधनभूते इत्यर्थः । तत्राविद्या पृथिवी, अहंकारो द्यौः, एताभ्यामेव सर्वविस्तारात् । तथा तन्तुवायस्य तुरीवेमादिवद्दिनरात्रिप्रकाशकौ सूर्यचन्द्राविडापिङ्गलाभिधनाडीस्थौ नासिकाछिद्रद्वारा ज्ञानात् । एवं सहस्रतार=अज्ञानस्यानन्ता वृत्तयस्तन्तुतुल्याः । ताभिरेवानेकयोनीरात्मज्ञानं विना ज्ञानरहितो जीवश्चेशश्च सम्पाद्य तत्र गच्छति (तः) । तत्र जीवो देहाभिमानान्नानादेहान्प्राप्नोति । ईशस्तु स्वेशितत्वाभिमानेन बहुवारं सृष्टिसर्जनादावुपयुक्तान् स्वसिद्धान् देहान् प्राप्नोतीति तयोरयमेव विशेष इति भावः । अजहुँ=अद्यापि तन्तु-विस्तारं कुरुतः; अत आत्मज्ञानं दुर्लभमित्यर्थः । कबीर=कर्मकुशलः सर्वान् कर्मण्येव योजयति । कोरी तन्तुवायतुल्यौ जीवेशौ । भल बीने=तन्तुविस्तारं कुरुतः । तत्रेशः सूत= दिव्यनिष्कामं कर्मकृत्वा तदेव तन्तुरूपं विस्तारयति । जीवस्तु कुसूत=अशुद्धं कर्म सकामं कृत्वा तदेव तन्तुरूपं विस्तारयतीति भावः ।। २८ ।।

---

१. जुलहा ।
२. आनि ।
३. अकाश द्वि ।
४. दो ।
५. पूरिन ।
६. लै पूरिन ।
७. बिनै ।
८. तुरी और वेमा की अन्य प्रकार से उपमा के प्रयोग के लिए देखिये— श्री हर्षः नैषधीयचरित, सर्ग १, श्लोक १२ ।

जीव और ईश ये दोनों जुलाहों के समान हैं, जो देह और ईशत्व के अभिमान से प्रपंच का विस्तार करते रहते हैं। इन्होंने विश्व और वैश्वानर आदि को भोक्ता कल्पित किया और उनके उपभोग के लिए अनेक देह रूपी ताना फैलाया है। इस ताने के निर्माण के हेतु मजबूती से पाँव की पकड़ के निमित्त इन्होंने स्वर्ग और पृथ्वी को खड्डे माने, जिन में स्वर्ग अहंकार का रूप है और पृथ्वी अविद्या है। दिन और रात इन जुलाहों के तुरी और वेमा हैं, अज्ञान की अनन्त वृत्तियाँ उस पट के तन्तु हैं, और इस प्रकार बुने हुए वस्त्र को सभी आत्मज्ञान-हीन व्यक्ति ईश्वर मान लेते हैं। आत्मज्ञान दुर्लभ है। ईश निष्काम कर्म द्वारा और जीव सकाम कर्म द्वारा इस पट का विस्तार करते रहते हैं।

रमैनी-२९

एहि[1] विधि कहौं कहा नहिं माना। मारग माँझ पसारिन ताना॥
रात दिवस मिलि जोरिन तागा। ओंटत कातत भर्म न भागा॥
भर्मा सर्वघट रहा सँभाई[2]। भर्मा छोड़ि कतुहुं नहिं जाई॥
परै न पूर दिनहुँ दिन छीना। जहाँ जाय तँह अंग बिहूना[3]॥
यो[4] मत आदि अंत चलि आया। सो मत सभहिन्हि[5] प्रकट सुनाया॥
या इहे सनेस फूर के मानेहु, लीन्हों सीस चढ़ाय[6]।
सन्तो सन्तोष सुख हेरहु तो शीतल हृदया[7] जुड़ाय॥ २९॥

एतदेव द्रढयति[8]-एहीति । एहि विधि=अनेनैव प्रकारेण, आत्म ज्ञानं कुर्विति वदामि, तथापि न मन्यते कश्चिदित्यर्थः । यतो मार्गे=जन्ममरण-प्रवाह-रूपे संसारपथि, प्रसारि=हैरण्यगर्भादिपदेच्छया, ताना=यज्ञादिकर्म तनोति । रातेति । तागा=सुतकलत्राद्यभिमानेऽहर्निशं चित्तं योजयति । औंटत=योगाभ्यासं कुर्वन्नपि, कातत=अनेकशास्त्रार्थं जानन्नपि, भ्रमो न नश्यति, विक्षिप्तचित्तत्वा-दिति भावः । भ्रमस्तु सर्वेषु जीवेषु स्थित इत्यर्थः । भ्रमं त्यक्त्वा कतहु=आत्म-स्वरूपं न प्राप्तः । परै नेति । परोक्षवादे पूर्णता नास्ति; प्रतिदिनमज्ञानमेव; अतः

---

१. यहि
२. समाई।
३. विहीना।
४. जो।
५. उन सब।
६. यह संदेश फुरमानेहु…शिरहिं।
७. सन्तो हे सन्तोष सुख रहुतो हृदय।यहां आत्मस्वरूपं जानीहि' उपयुक्त है।
८. प. द्रढयति।

क्षय एव । अतः, तहाँ जाय=तत्रात्मानन्दे गच्छति यत्र अंग बिहूना=यत्र शरीर-त्रयान्मुक्तो भवसीत्यर्थः ।

जो मतेति । यदात्मस्वरूपं सर्वेष्वेकरसं 'निर्दोषं हि समंब्रह्मे'त्युपनिषद् प्रसिद्धं, चलि आया=परम्परया प्राप्तम्, सो मत—तदेव महद्भिः साधुभिः स्पष्टं मुमुक्षून् प्रतिश्रावितम् । यहेति । यह सन्देश=षट्शास्त्रवादरूपं कथनं, फूर=कथं सत्यं मत्वास्मिन् रमसे, तर्हि सोस=अन्तःकरणेऽहंकारस्य वृद्धिर्भविष्यति । 'कुशला ब्रह्मवार्तायां वृत्तिहीनाः सुरागिणः । ननु तिष्ठन्ति मैत्रेयि, शिश्नोदरपरायणाः ।' इति श्रुतेः ।

तस्माद्भोः सन्तः, एतान् शास्त्रवादान्परिहृत्यानन्दरूपं चिदात्मकं यद्वस्तु तत्स्वरूपा भवध्वम् । तेन वासनारहिताः सन्तोहृदि=बुद्धौ,शीतल=तापत्रयनाश-पूर्वकं परमसुखप्राप्तिर्भविष्यति, यथा कश्चिद्धर्मतप्तः सरित्तटं प्राप्य जलपानादिना शान्तो भवति तथेति भावः ॥ २९ ॥

इस आत्मविचार के मार्ग पर ध्यान केन्द्रित होना कठिन है , जन्म मरण प्रवाह रूपी संसारपथ में भ्रमण करता हुआ प्राणी हिरण्यगर्भपद की प्राप्ति की अभिलाषा में यज्ञादि में प्रवृत्त होता है और दिन-रात सुत-कलत्र के मोह में रहता है । इस प्रकार योगाभ्यास करने और शास्त्रज्ञ होने पर भी चित्त-विक्षेप के कारण उसका भ्रमित होना स्वाभाविक ही है। सुधीजनों द्वारा प्रतिपादित, सदैकरस और उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म की ओर ध्यान नहीं जाता । अतः शास्त्र-वाद और वासना छोड़कर आनन्द रूप चिदात्मा का ध्यान करो जिससे हृदय शीतल हो सके ।

रमैनी ३०[1]

वज्र हु ते तृण खिन महँ होई । तृण ते वज्र करे पुनि सोई ॥
निरझरू नर जानि परिहरे[2] । कर्म के बाँधल लालच करे[3] ॥
कर्म धर्म मति बुधि परिहरिया । झूठी बात साँच ले धरिया ॥
राजगति त्रिविध कीन्ह परगासा[4] । कर्म धर्म बुद्धि केर विनासा ॥
रवि के उदे तार भव[5] छीना । चर विहर दुनहु[6] महँ लीना ॥

---

१. सं. बी. ब. में ३० और ३१ बीं रमैनी में क्रम-विपर्यय है ।
२. निझरू; परिहरिया ।
३. करिया ।
४. रजगति; (व्याख्या में रजगति लिया है) । प्रकाश ।
५. उदयतार भौ ।
६. वीहर दोनों ।

विष के खाए विष नहिं भाजे[७] । गारुड़ सो जो मरत जिवावे ।।

अलक (ख) जो लागी पलक महँ, पलकन महँ डसि जाई ।

विषहर मंत्र न माने तो,[८] गारुड़ काह कराई ।। ३० ।।

वज्रेति । वज्रम्=अज्ञानं, जीवोऽहमिति तृणवदल्पत्वं क्षणेनैव स्वात्मविचारात्तृणप्रायं भवति । तृणवदल्पत्वं यन्निश्चितं, स एव जीवो ब्रह्मभूत्वा वज्रः=हीरक इवाभदो भवतीत्यर्थः । निरझरू-झरू=क्षणशीला माया; तद्रहितं निर्मायं निरवद्यं जानि=ज्ञानस्वरूपं यद्वस्तु तत्परिहृत्य मनुष्योऽहमहं नर इति मन्यते । अतः कर्म के=त्रिविधकर्मणि प्रीतिं करोति । कर्मेति । कर्म यज्ञादिधर्मो वर्णधर्मः, तत्र मतिः=निश्चयो येषां तेषां बुद्धिस्वरूप आत्मा दूरतरमित्यर्थः । यतः झूठी बात=पुष्पितां कर्मप्रतिपादकां वाणीमसतीं सदेव मन्यते । अज्ञ आत्मज्ञानं विहाय,रजगति=त्रिविधं कर्म कृत्वा तत्फलं लभते । यतः काम्यकर्मबुद्धिः स्वात्म रूपस्य नाशं करोति ।

रवीति ।यदा स्वात्मज्ञान सूर्य उदेति, तदा तारातुल्या नानामतवादाः क्षीयन्ते; चर=मायोपाधि, वीहर=अविद्योपाधिः, तज्जन्या सर्वज्ञता चाल्पता चात्मनि लीने भवतः । विषेति । पूर्वमज्ञानमेव विषमस्ति । तन्नाशायेन्द्रियविषयवार्तां श्रुत्वा तद्भोगायासक्तश्चेत्, पूर्वविषं भाजे किम् ? अपि तु न । अत आत्मनिश्चयोन भवतीत्यर्थः ।

गारुडेति । स एव गारुडः=मन्त्रज्ञवत् सद्गुरुर्यो मनुष्योऽहमिति मृत ज्ञानेन जीवयति=आत्मस्वरूपं करोति । अलखेति । अलख=अदृश्यं संकल्पविकल्पात्मकं मनः शास्त्रीयज्ञानं विचार्य क्षणादेव भ्रमसर्पेण दष्टं भवति । अतः भ्रमरूपोऽहिः । विषहर=सद्गुरुः, मन्त्रम्=आत्मज्ञानं वदति; तन्न मन्यते चेत्, गुरुर्वैदः किं करिष्यतीत्यर्थः । न शास्त्रैर्नापि गुरुणा दृश्यते परमेश्वरः इति ।। ३० ।।

ब्रह्मप्राप्ति से अज्ञान रूपी वज्र क्षणमात्र में तृणप्राय हो जाता है, और तृण के समान तुच्छ जीव हीरा बन जाता है । मनुष्य क्षणिक भाव वश कर्म में रत हो कर परब्रह्म से अधिकाधिक दूर जाता रहता है । काम्य कर्म में बुद्धि स्वात्मरूप का नाश करती है । आत्मज्ञान रूपी सूर्य का उदय होते ही अविद्योपाधि तारों के समान नष्ट हो जाती है । अज्ञान विष है और मंत्रज्ञ के समान गुरु इस सर्प के विष को दूर भगा देता है ।

---

७. जावै ।

८. मानये ।

रमैनी ३१

औ भूले षट् दर्शन भाई। पाखंड भेष[2] रहा लपटाई ।।
जीव शिव को आह सवना[3] । चारों बद्ध चतुर गुण मेना[4] ।।
जैनी धर्म के मर्म न जाने । पाति[5] तोरि देवघर आने ।।
दवना मरुवा चंपा के फूला[6] । मानहु जीव कोटि सम तूला ।।
औ पृथिवी के रोम उचा (पा) रे । देखत जन्म आपनी हारे ।।
मन्मथ बिन्दु करे असरारा । कलपे बिम्ब खसे नहिं द्वारा ।।
ताकर हाल होय अदबूदा[7] । छव दरसन महं जैनि विगूर्चा[8] ।।
ज्ञान अमर पद बहारे, नियरे हैं ते दूरि ।
जो जाने ता के निकट हे, न तो रहा सकल घट पूरि[9] ।। ३१।।

औ भूले इति । षट्दर्शनानि=षट् शास्त्राणि। तद्वादिनः आत्मानं विस्मृत्य वादे रताः इन्द (इन्द्रिय ?) कृतपाखण्डेषु सज्जन्ते । जीवेति । जीवेशयोर्वाच्यार्थयोर्न सवना=परोक्षमेव वार्तां वदन्ति । आत्मानं द्वैतवादि न चासकुर्वन्ति[10] । आत्मानं न कथयन्ति । चारों=द्वैतं, विशिष्टाद्वैतम्, अद्वैतं, विशिष्टद्वैतं चेति चत्वारः पक्षाः । तत्र स्वपक्षे, चतुर=निपुणाः सज्जन्ते । अतो गुणमयेऽस्मिन्वादे, मेना=आत्मविचारं विना शान्तिर्मे नास्तीति ज्ञानिमतम् ।

जैनीति । जैनी=बौद्धः[11] आत्मधर्मस्य मर्म=तत्त्वं न जानाति । कुत इत्यत आह—पातीति। वृक्षपत्राण्येव देवार्चनार्थं गृह्णाति । दमनचम्पकादीनि पुष्पाणि कोटिजीवतुल्यानीति च वदति । सर्वान्वृक्षान्पृथिवीरोमवत् मन्यते, तथाप्यात्मज्ञानं विनाऽहिंसारूपं धर्मं कुर्वन्नपि जन्म व्यर्थमेव करोति ।

मन्मथेति । मन्मथो=वासना । तया बिंदु चिदाभासो जीवः, तद्भावं मत्वा

---

१. क्रम विपर्यय के लिए, पिछली रमैनी की टिप्पणी १ देखिए ।
२. वेष ।
३. शीव का आहि नशौना ।
४. चतुर्गुण मौना ।
५. पाती ।
६. दमना मरुआ चम्पक फूला ।
७. अदभूता ।
८. विगूता (र्चा) ।
९. जाने ताको निकट है अनजाने को दूर ।
१०. न···न्ति-अर्थ अस्पष्ट है । अक्षर भी काटे गए हैं ।
११. जैनी और बौद्ध भ्रम से एक कर दिए हैं ।

असरारा=दुःख सुखादिव्याप्ता भवन्ति। देहेन्द्रियबुद्ध्यादीनामात्मा [१२] वदन्ति। अतो जैनानामज्ञानमेव, नात्मज्ञानं भातीति भावः। कलपे इति। बिम्ब=जीवः आत्मज्ञानं बिना कल्पनासन्देहं करोति। अतो द्वारं=संशयद्वारमज्ञानं न खसे=न त्यजति। ता कर इति। अतो जैनः षट्शास्त्रवादिनश्च भ्रान्ताः सन्तः, अदबूदा= असदेव सदिति मत्वा भ्रान्ता भवन्ति। ज्ञानेति। आत्मस्वरूपं यो जानाति तद्बुद्धौ साक्षादेव वसामीति। यदि देहोऽहमिति मन्यते, तर्हि दूरमेवेति ब्रह्मविद्या वदति। अमरपद=मोक्ष इति, यद्वहिर्वदति तदात्मैव नियरे=निकटं; सर्वेषां घर=देहेषु पूर्णः=व्याप्त एवेत्यर्थः॥३१॥

हे भाई, अनेक व्यक्ति तो दर्शन के तत्त्व को न समझ कर केवल पाखण्ड में लिपटे रहते हैं। वे द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि में उलझकर आत्मतत्व को विस्मृत कर देते हैं। अहिंसा की दुहाई देने वाले धर्म के मर्म को न जानकर फूल-पत्ती तोड़ते हैं, मानो पृथ्वी के रोम का उच्छेद करते हैं। वे वासना से बद्ध होकर देह, इन्द्रिय, बुद्धि आदि को आत्मा मानते हैं और समीपस्थ चिदाभास को भूल ही जाते हैं।

रमैनी ३२

सुमृति[१] आहि गुणन के चीन्हा। पाप पुण्य कै मारग कीन्हा॥
सुमति वेद पढ़े असरारा। पाखंड रूप करे हंकारा॥
पढ़े वेद अव[२] करे बड़ाई। संशय गाँठि अजहुँ नहिं जाई॥
पढ़े शत से जोव वध करही। मुंडी काटि अगुमन के धर ही॥

कहहिं कविर ई पाखंड, बहुत जीव सताव।
अनुभव भाव न दरसे[३], जियत न आपु रखाव॥ ३२॥

सुमृतीति। चतुर्विंशतिपाराशरादिस्मृतयस्त्रिगुणकर्माणि ज्ञापयन्ति-पापेति। शुभं निष्काम कर्म, तेन ज्ञानं लभ्यम्। अशुभं सकाम कर्म, तेन स्वर्गाद्यावृतिदान् लोकान्प्राप्नोतीति। मार्गः=सेतुर्ज्ञापितः। वेदस्मृत्यादि, पढ़े=पठित्वाप्यात्मज्ञानहीनाः, असरारा=सुखदुःखादिभिः भ्रान्ता भवन्ति। कुत इत्यत आह-पाखण्डेति। पाखण्डकृताविद्ययाऽऽत्मज्ञानवर्जिते त्वदीयं मदीयमित्यहंकारे बध्यते। वेदमधीत्य, अवरक्षनं (१२)[४] ब्रह्मविचारं न करोति। अज्ञानेन परस्परं देहदाराद्यभि-

१२. 'बुद्ध्यादीन्' चाहिए।
१. सुस्मृति।
२. औ।
३. दरसये।
४. अक्षर स्पष्ट हैं किन्तु अर्थ ज्ञान नहीं होता।

जनवानस्मीति वदति । संशय=वेदाध्ययनेनापि कीदृशो माया, ईशश्च कीदश इत्यादि भ्रमोऽद्यापि न जोवानां गतः। कस्मादित्यत आह-पढ़े इति । श्रुतिस्मृत्यध्ययनं कृत्वाप्यज्ञानान्धस्यात्मज्ञानं न भासते । कथितोऽपि शतशो जीवान् यज्ञे घ्नन्ति मुण्डीति-तामस प्रायेषु कर्मसु पशुमस्तकं छित्वा सुरेभ्यो बलिं विश्राणयन्ति । कबीर=साधवो विचारिणः पुरुषा एवं वदन्ति—स्वात्मारामविचारं विना जीवान् ये घ्नन्ति ते आत्मानमेव खादन्ति, आत्मनाशमेव कुर्वन्तीति भावः ।।३२।।

पाराशर आदि की २४ स्मृतियों में कर्म के विवेचन में कहा गया है, कि निष्काम कर्म शुभ एवं ज्ञानवर्धक है और सकाम कर्म स्वर्गादि की आवृत्ति करने वाले लोकों में पहुँचाता है । फिर भी, पाखण्डकृत अविद्या के कारण आत्मज्ञान से हीन जन "तेरा-मेरा" के अहंकार में घिर जाते हैं । वेद का अध्ययन करने पर भी, माया और ईश का स्वरूप न जानना भ्रम ही है । अज्ञान का अन्धकार इस में डुबाता है और तामसप्राय हिंसादि कर्मो में लिप्त करता है । कबीर कहते हैं कि इस प्रकार की हिंसा करने वाला व्यक्ति खुद की हिंसा करता है ।

रमैनी ३३

अंध सुदर्पण[1] वेद पुराणा । दर्वी काह महारस जाना ।।
जस खर चदन लादे भारा । परिमल वास न जाने गमारा ।।
कहहि कबीर खोजे अमाना[2] । सो ना मिले जो[3] जाय अभिमाना ।।

ननु वेदानधीत्य, ज्ञात्वापि सर्वे जीवाः कुतो भ्रान्ताः सन्तः कुकर्मण्यासक्ता इत्याशङ्क्य, वर्णाश्रमाभिमानेनान्धस्य दर्पण इव तदनुपयोगाद्भ्रान्ता एव काम्यकर्मासक्ता भवन्तीत्याह-अन्धेति । सुदर्पणः सुष्ठु-मलरहितो दर्पणः तत्तुल्या वेद पुराणादि-ग्रन्थाः जीवत्वं विमोच्यात्मानं ज्ञापयन्ति, तथापि वर्णाश्रमाभिमानान्धस्यात्मज्ञानं न भासते । अत्रो दृष्टान्तः । यथा दर्वी शतवर्षं पाकं कुर्वत्यपि रसं न जानाति; यथा वा खरो=गर्दभः स्वपृष्ठोपरिस्थचन्दनभारं वहन्नपि सुगन्धं न जानाति । 'यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न हि चन्दनस्य । तथा च विप्राः श्रुतिभिश्च पूर्णा ज्ञानेन हीनाः खरवद्वहन्ति ।। इति धर्मशास्त्रे, तथेति भावः ।

कबीरः आत्मविद्याद्यदृष्टीन् हसति । आत्मज्ञानं विना अज्ञाः=असमानाः आकाशवदवस्तुभूतयज्ञतीर्थादिषु वैकुण्ठादिलोकेषु च खोजे=आत्मानं मृगयन्ति । अज्ञानां देहाभिमानो न नश्यति । अत आत्मप्राप्तिर्न भवतीत्यभिप्रायः ।। ३३ ।।

१. सो दर्पण ।

२. असमाना ।

३. न मिला जु ।

वेदों का अध्ययन करने पर भी वर्णाश्रमाभिमान के कारण काम्य कर्म में लिप्त रहना अन्धे के हाथ में दर्पण के समान है। वह दृष्टि हीन है। सैंकड़ों बरस पाक करने वाली करछु उस पाक का स्वाद नहीं जानती। चन्दन की लकड़ी से लदा हुआ गधा चन्दन की सुगन्ध से अनभिज्ञ ही रहता है। कबीर कहते हैं कि आत्मज्ञान से हीन मूर्ख जन आत्मा की खोज यज्ञ, तीर्थ और वैकुण्ठ आदि लोकों में करता रहता है, किन्तु अभिमान नष्ट किए बिना आत्मज्ञान कर नहीं सकता।

रमैरी ३४

वेद के पुत्री स्मृति भाई। सो जेवरि कर लेतहि आई॥
आपु ही वरी आप नगर[1] बँधा। झूठी मोह काल के कंदा[2]॥
बाँधत बाँध छोरि नहि[3] जाई। विषय सरूप भूली दुनि आई॥
हमरे देखत सकल जग लूटा। दास कबीर राम कहि छूटा॥
रामहि राम पुकारते, जिभ्या[4] परिगो रोस[5]।
शुद्ध जल पीवे नहीं, खोदि पीव को[6] हौंस॥३४॥

वेद के इति। वेदस्य शब्दब्रह्मणः पुत्री उत्पन्ना स्मृतिः। आत्मज्ञानं कीदृशम्? ई-मायाविद्ययोः भा=प्रकाशकम्। वर्णाश्रम्यहमित्यविद्या, जेवरि=रज्जुः, करे=अन्तःकरणे, ले=गृहीत्वा, तर्हि, आई=अज्ञानं प्राप्तः। आपु हि=स्वयं चिद्रूप एव देहोऽहमिति भ्रमेण रज्जुः, वरि=सम्पादिता। आपन घर=स्वकं देहं बंधा=वधिता (बद्धवान्)। झूठी=मृषा, काल के=काले न भवति-प्रतिष्ठति, नश्यति च। अस्मिन्नहमिति मन्यतेऽतो मोहपाशेन बध्यते। बाँधतेति। मनुष्योऽहमिति बन्धनेन बद्ध एव पुनराश्रमाद्यभिमानेन बद्धो भवति-न मुच्यते।

विषये इति। दुनि=इहामुत्र च[7] भोगासक्ता धीर्विषयरूपा। अत आत्मानं विस्मृत्य, आई=नानायोनिष्वागच्छति। हमरे इति। देखत=साक्षादेव, सकलं जगदात्मैवेति ज्ञानमविद्यया हृतम्। दासेति। दास, दसु उपक्षये; इन्द्रियभोगक्षय-

---

१. बरि आपन गर।
२. फन्दा।
३. बन्धन छोरि न।
४. जिह्वा।
५. सूधा।
६. पिवन की।
७. सं० बी. ब. में 'दुनियाई' पाठ लिया है=सांसारिक व्यवहार, स्त्री पुत्रादि।

कर्तारः, सद्गुरुदासभूता वा, कबीराः मुमुक्षवो राम कहि=रामः सच्चिदानन्द-स्वरूपोऽहमिति, चित्तं प्रति कहि=उपदिश्य, छूटा=संसार-बन्धनान्मुक्ता इत्यर्थः ।

रामेति स्वत एव शुद्ध शब्दो भवति; तमज्ञात्वा जिह्वया वैखरीद्वारा उच्चैर्वदति, शुद्धं चिद्रूपं न गृह्णाति, यथा कश्चित्पिपासार्दितोऽज्ञः कूपखननोपायं करोति, बहुशास्त्रार्थं वादावादं करोति, तथात्मानं विस्मृत्यैव, नानाविधोपासनां बाह्यां करोति; अतः परमानन्दो न प्राप्यते इत्यभिप्रायः ।। ३४ ।।

हे भाई, स्मृति वेद की लड़की ही है, किन्तु उसी ने चिद्रूप जीव को अन्तःकरण माया और अविद्या की रस्सी से जकड़ दिया है। इसी से वह वर्ण और आश्रम का अभिमान करके और अपने मूल स्वरूप को भूलकर, भोग में आसक्त हो जाता है। कबीर कहते हैं कि सच्चिदानन्द राम के स्मरण से ही संसार का बन्धन छूट जाता है। चिद्रूप को न समझकर केवल शास्त्रार्थ, विवाद और बाहरी उपासना में लगे रहना ठीक वैसा ही है जैसा बहता हुआ शुद्ध जल न पीकर कुंआ खोदने का प्रयास करना।

रमैनी ३५

पढ़ि पढ़ि पंडित करे[१] चतुराई । निजमुक्ति मोंहि कहु समुझाई ।।
कहाँ बसे पुरुष कहाँ सो ग्रामु । सो मोहि पंडित सुनावहु नामु[२] ।।
चारि वेद ब्रह्मे निज ठाना । मुक्ति के मर्म उनहु नहिं जाना ।।
दान पुण्य उन्हि[३] बहुत बखाना । अपने मरन के खबरि न जाना ।।
एक नाम है अगम गंभीरा । तहाँ वा स्थल[४] दास कबीरा ।।

चेंटि[५] तहाँ न चढ़ि सके, राई न[६] ठहराय ।
अवन गमन की गमि नहीं, तहीं सकल लोज गजाय[७] ।।

---

१. करु ।
२. गाऊँ; नाऊं ।
३ उन; इस शब्द का पहला अक्षर 'हु' लिखकर बाद में फीकी स्याही से किसी अन्य लेखक ने दुरुस्त किया है। इसी प्रकार, दूसरी पंक्ति में 'क्षु' का 'मु' किया है।
४. तहवाँ अस्थिर ।
५. चिउंटी ।
६. नहिं
७. आवागमन कि गम नही, तहाँ सकल जग जाय ।

इदानीं चिदाभासं जीवं ब्रह्मविद्यैवमुपदिशतीत्याह-पढ़ि पढ़ीति । भोः अविद्यावशजीव, नानाचातुर्यतां (चातुर्यं) ज्ञात्वाभिमानं त्व गतः । भो चित्त-प्रकाशक जीव, निजमुक्तित्वं-न देहोऽहमित्यस्माद्विमुक्तो भूत्वा, मोहिं=मद्युक्तौ भव । समुझाई=भो जीव, त्वमेकः पूर्णः पुरुषः । त्वां विना कः पुरुषः, कहाँ सो ग्रामु=कुत्र कोऽसौ ग्रामः, कोऽपि न, सो=तद्ब्रह्म, मोहि=ज्ञानस्वरूपस्त्वमसि । पण्डित, चित्तादिप्रकाशकोऽहमिति, सुनावहु नामु=बहुवासनानां स्वस्मिन् लयं कुरु ।

चारीति । हे प्रकाशक, त्वमेव स्वयं भूद्धौ[८] प्रविश्य चतुरो वेदान् प्रकाशितवान् । तथा च श्रुतिः—'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै । तं देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ।।' इति ।

उनहुँ-वेदैरपि मोक्षस्वरूपमज्ञातम्, नानाव्याख्यानात् । ब्रह्मणः श्वास सम्भूता वेदा दानादिबहुधर्मान्विदन्ति । अपने इति-वेदा यदा भगवति प्रविशन्ति तदा किमपि न ज्ञायते । अगमेति-यतो वेदाः श्वासद्वारा भवन्ति, तस्मिन्नेव लीयन्ते, अतो वेदानामप्यगम्यं गम्भीरमात्मस्वरूपम् । तहाँ वेति । कबीर= मुमुक्षूणां प्राणे स्वतो घोषो भवति, तत्रैवाधिकार इत्यर्थः । चिउँटोति । चिउँटो पिपीलिकातुल्यं सूक्ष्मं मनोऽपि यस्य रूपं न जानाति; राई=चित्तं चापि सूक्ष्मा बुद्धिर्न जानाति; गतागतं यस्मिन्नात्मस्वरूपेन भासते; तत्रैव सर्वं विश्वं जाय= लीयते । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुतेः । तस्मादात्मैवाहमिति सर्वं खल्वात्मैव बुध्यस्वेति जीवस्योपदेश इत्यभिप्रायः ।। ३५ ।।

हे जीव, तू चतुर होकर भी अविद्या के कारण देह में अभिमान करता है ? तू पूर्ण पुरुष से अन्य नहीं । पूर्ण पुरुष और कौन है और कहाँ निवास करता है ? यह समझ कर, वासना को दूर भगा दे । हे प्रकाशक, तू ही स्वयम्भू है, वेदों का प्रकाशक है । वेद भगवान् के श्वास से ही होते हैं, वहीं लीन भी । वहाँ न चींटी के समान सूक्ष्म मन की पहुँच है और न सूक्ष्म बुद्धि ही वहाँ ठहर सकती है । जिसमें समस्त विश्व लीन होता है, वही ब्रह्म है यह समझ ले ।

रमैनी ३६

पंडित भूले पढ़ि गुनि वेदा । आपु आपन[१] पौ जाने न भेदा ।।
संध्या तर्पण औ षटकर्मा । ई बहुरूप करहिं अस धर्मा ।।

---

८. बुद्धौ । व्याख्या के अनुसार यही ठीक जंचता है 'घ' के ऊपर का भाग 'न्'— सरीखा लिखा है ।

१. अपन ।

गायत्री जुग चारि पढ़ाई। पु (पू) छहु जाय मुक्ति किन्हि[2] पाई॥
अवरक छू (छु) ये लेतहु[3] सींचा। तुम ते कहहु कवन[4] है नीचा॥
ए गुण गर्व करहु अधिकाई। अधिके[5] गर्व न होत भलाई॥
जासु नाम है गर्व प्रहारी। सो कस गर्वहिं सके सँहारी[6]॥

कुल मर्यादा खोय के, खोजिन्हि पद निर्वान।
अंकुर बीज न साय के, नल[7] भये विदेहो थान॥ ३६॥

पुनरप्येतदेव द(द्र)ढयति-पण्डितेति। पण्डितः स्वयं प्रकाशरूपो जीवः। श्रुत्यध्ययनं कृत्वा [त्वं] निजरूपं न जानासि। आपु न=आत्मैवात्मानं न जानासि। सन्ध्यातर्पण दानप्रतिग्रहयजनयाजनपठनपाठनरूपाणि षट् कर्माणि च करोषि। स्वरूपज्ञानाभावादात्मैवाहमिति ज्ञानं विना सकामधर्मान्कृत्वा नाना-देहान् बिभर्षि। आत्मानं विस्मृत्य गायत्रीं जपतश्चतुर्युगानि गच्छन्ति। कीन्ही==कश्चिन्निष्कामतयात्मानं प्राप्तः? भो जीव, त्वं पृच्छ-स्वरूपज्ञानमात्रात्मज्ञानं विना, अवरके=शूद्रादिस्पर्शेसति, सींचा=जलस्पर्शमार्जनादि करोषि। ब्राह्मणोऽहमित्यभिमानेन त्वय्येव नीचत्वमस्ति। त्वत्तो नीचः कः स्यात्? ए=सर्वानुभवसिद्धं निर्गुणं वस्तुस्वरूपं सन्त्यज्य मनुष्योऽहमित्यधिकं गर्वं किं मन्यसे? तदुक्तं भगवद्गीतोपनिषदि-'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकार-विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥' इति। आत्मानं विहाय वर्णाश्रमाभिमानात् ज्ञानप्रकाशो न भवति, यत आत्मज्ञानाद्गर्वो नश्यति, तद्विहाय देहोऽहमिति मलिनाहंकारस्तवास्ति। अतः, प्रहारी कालस्त्वन्नाशं करोति। सो=तत्, आत्म-ज्ञानमविद्यागर्वं कथं सहति (ते), ज्ञानाज्ञानयोः प्रकाशतमसोरिव विरोधात्।

अतः भो जीव, देहसम्भवां' (वस्य) कुलमर्यादाभिमानस्यात्मविज्ञानेन नाशं कृत्वा, निर्वाणं विषयरहितं स्वरूपं शोधय, येन शान्तिर्भवति। यदि स्वरूपानुभवरूपं बीजांकुरं नाशयसि, तर्हि विदेहो=देहरहितश्चैतन्यरूपोऽपि त्वं नरत्वं प्राप्स्यसि। अत आत्मज्ञानं मा विस्मर, तेन परमानन्दं प्राप्स्यसीत्युपदेश इति भावः॥ ३६॥

---

२. युग; किन।
३. औरक, लेत हौ।
४. कौन।
५. अवगुन; अति कै
६. सम्हारी।
७. नर।

हे पण्डित तू स्वयं प्रकाशक जीव है और वेदों का अध्ययन करने पर भी तू अपने रूप को नहीं जानता ? आत्मा ही आत्मा को नहीं जानती ? और तू सकाम कर्म करके अनेक योनियों में भ्रमण करता है ? शूद्र आदि का स्पर्श हो जाने पर शरीर पर पानी छिड़कता है और मैं मनुष्य हूँ यह मान कर गर्व करता है ? यह सब माया-जाल है। आत्मज्ञान से अपने गर्व को नष्ट कर। स्वयं को देह मानना मलिन अहंकार है। देह से उत्पन्न सारी कुल-मर्यादा छोड़कर अपना निर्गुण चैतन्य स्वरूप समझ। इससे परमानन्द प्राप्त होगा।

रमैनो ३७

ज्ञानी चतुर विलक्षण लोई। एक सयान सयान न होई ॥
दोसर सयान के[1] मर्म न जाना। उत्पति प्रलय[2] रैनि बिहाना ॥
वाणिज एक सबन्हि[3] मिलि ठाना। नियम धर्म संजम[4] भगवाना ॥
हरि अस ठाकुर ते ना[5] जाई। बाल न भिस्ति गावे[6] दुहलाई ॥
ते नल कहँ[7] गए, जिन्हिं दीन्हों गुर[8] घोटि।
राम नाम निज जानि के, छोड़ि देहु वस्तु[9] खोटि ॥ ३७ ॥

ज्ञानीति। यो ह्यात्मस्वरूपनिश्चयवान्स एव चतुरः, स एव विलक्षणो,नेत्रयुतः, स एव लोई=वरिष्ठः। एक अद्वितीय आत्मा येन ज्ञातः स सयान=चतुरः। अन्यो न चतुरोऽस्तीत्यर्थः। दोसर=द्वैतभावे शास्त्रज्ञानजन्यकुलाद्यभिमाने चतुरः स मर्म=आत्म ज्ञानस्वरूपं न जानाति। आत्मज्ञानं विना जीवा उत्पत्तिलयरूपाः, रैनि=स्वरूपाच्छादकं निशारूपमज्ञानम्, तेन बिहाना=विषयमूढा भवन्ति। तदुक्तं भगवद्गीतोपनिषदि-'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥' इति। वाणिज=अन्तःकरणस्य वृत्तयो मिलित्वा ताभिर्मूढप्रतारणाय वणिजैरिव संसारो विस्तारितः। नियमेति-नियमादीन्कृत्वा, भग=ऐश्वर्यम्, तद्वान्भवामीति मन्यते। अज्ञ इति शेषः।

---

१. दुसर; को।
२. उतपति परलय।
३. सबनि।
४. नेम, संयम।
५. तेजिन।
६ विहिस्त गाव।
७. नर कहहु कहां।
८. जिनहिं दीन गुरु।
९. छाँडहु वस्तुहिं।

हरीति । ठाकू (कु) र=अष्टागतिनिवृत्तौ स्थिर: हरिरह अस इति भाव,[१०] तेजी=सन्त्यज्य न जाई—आत्मज्ञानं न भवति । बाल=स्वात्मनिश्चयं विना परोक्षं, भिस्ति=सालोक्यसारूप्य-सामीप्य-सायुज्य-साष्ठीति पञ्चविधमुक्तिः, दुहलाई=दूरं स्यादिति गायन्ति; जीवा इति शेष: ।

ते नलेति । जिन्हि=यैः, गुर=गुड़तुल्यं पूर्वमन्ते विषसमं काम्यकर्मकाण्डं, घोटि=बुद्धौ निश्चित्य, जीवेभ्यो विषयज्ञानं दत्तम्, ते नल=ते आत्मज्ञानहीना: =केवलमसुतृपो नराः, कहां गये=कथं स्वपरमानन्दे आत्मस्वरूपो गता: ? अपि तु न प्राप्ता: । अतएव रामनाम—स्वत: सिद्धशब्दो यो भवति, तद्द्वारा स्वात्मानं ज्ञात्वा, बाह्य, सगुणध्यानादिकम (कम्) असत् ज्ञात्वा, छोड़ि दे=मुच्यताम् । आत्मज्ञानेनैव परमानन्दावाप्तिः, न तु काम्यकर्मादिविश्वासेनेत्यभिप्राय: ।। ३७ ।।

आत्मा के अद्वितीय रूप को समझने वाला चतुर है । इसके अभाव में विषयान्धकार में डूबा हुआ व्यक्ति मूर्ख ही है । स्वरूप का अज्ञान निशा के समान है जिसने मलिन अन्तःकरण वृत्ति वाले व्यक्ति के प्रतारण के लिए जाल फैलाया है । उसमें फँस कर वह व्यक्ति मुक्ति से दूर हो जाता है । कर्मकाण्ड प्रारम्भ में गुड़ है किन्तु अन्त में विष है । अत: निर्गुण रामनाम को सत्य, और बाहरी सगुण संसार को असत्य जानने से ही परमानन्द की प्राप्ति होती है, काम्य कर्मकाण्ड से कदापि नहीं ।

रमैनी-३८

एक सयान सयान न होई । दोसर[१] सयान न जानै कोई ।।
तीसर सयान सयान हिं खाई । चौथे[२] सयान तहाँ लै जाई ।।
पंचम सयान न जानै कोई । छठ्ये माँह सर्व गेल बिगोई ।।
सप्त ये सयान जो[३] जाने भाई । लोक वेद महँ देह दिखाई ।।
बीजक[४] बतावे चित्त के, जो बिस गुप्ते होय ।
वो एसे शब्द बतावे, जीव के बुझे बिरला कोय[५] ।। ३८ ।।

---

१०. 'ठाकुर' से यहां तक अर्थ अस्पष्ट है । सन्दर्भ से यह अंश चित्स्वरूप निर्गुण ब्रह्म का द्योतक है ।

१. दुसर ।

२. तिसर; चौथ

३. जु ।

४. विजक; चित्त को ।

५. शब्द बतावै जीव को, बूझै बिरला कोय ।।

अथ षट् शास्त्रवादिनोऽभिमानयुता स्वस्वपक्ष चतुरा अपि स्वात्मज्ञान विना मूढा एवेत्याह-एकेति । एकः=प्रथमो मोमांसकः कर्मवादे रत आत्मज्ञानहीनः कुशलो न भवतीत्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम् । द्वितीयः प्रमाणप्रमेयषोडशपदार्थ-वादो वैशेषिकः प्रमाणप्रमेयसंशयविपर्ययतर्कवादवितण्डाजल्पहेत्वाभासद्रव्य-गुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावश्चेति षोडश, तृतीयो भूरा (भ्वा) दिसप्त-पदार्थवादी नैयायिको गर्तरूपः। चतुर्थः शब्दवादी पतञ्जलिः । पञ्चमस्तत्व-गणकः प्रकृतिपुरुषविभागकः सांख्यः । षष्ठः 'नेह नानास्ती'ति सर्वब्रह्मालोचको वेदान्ती । एते षट् लोकभ्रमदा एवेत्यर्थः ।

सप्त ये इति । सप्तमः स्वानुभवानन्दो लोके षट्शास्त्रविचारे च वेदे उपनिषत्सु च प्रत्यक्षमेव दर्शयामि, यथा बहुकालोपस्थितगुप्तवित्तस्य ज्ञानं बोजकं तद्ज्ञापकं लेखादि लोकेभ्यः करोति । दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्ते योजयति-वो इति । वो=जैमिनिकण्वगौतमशेषकपिलव्यासाः षट्शास्त्रदर्शकाः शब्दद्वारा सर्वान् बोधयन्ति, तन्मतबहिर्भूतं शब्दगम्य वस्तु कश्चिदेव जानातोत्यर्थः ।। ३८ ।।

अपने अपने पक्ष में चतुर षड्शास्त्रवादी भी अभिमानी ही होते हैं । वे भी आत्म-ज्ञान से दूर ही हैं । कर्मवादी मीमांसक, पदार्थवादी वैशेषिक, पदार्थवादी नैयायिक, शब्द-वादी पातंजल, तत्त्ववादी सांख्य, ब्रह्मवादी वेदान्ती—ये सभी अपने अपने पक्ष में ही उलझे रहते हैं और लोगों में भ्रम फैलाते हैं । ब्रह्म वेदों और उपनिषदों में सन्निहित खजाना है । उस खजाने की चाबी बीजक है जो उस के सूचक अभिलेख का काम करता है ।

रमैनी-३९

जिन्हि कलिमा कलि माँह पढ़ाया । कुदरति खोजि तिनहुँ नहिं पाया ।।
कर्मते कर्म करे करतूता । वेद कितेब भया सभ[1] रीता ।।
कर्मते सो जो गर्भ अवतरिया । कर्मते सो जो नाम जाकी धरिया[2] ।।
कर्मते सूनति अवर[3] जनेऊ । हिंदू तुरुक न जाने भेऊ ।।

पानी पवन संजोय के, रचिया, ई उतपात ।
सुन्नहि श्रुति समायके[4] कासो कहिए जात ।।३९।।

---

१. सब ।
२. नाम धरिया ।
३. और ।
४. शून्यहिं सुरति समोय के ।

अथ कर्ममार्गेणापि मूढा। यवनतद्भिन्नादिजीवा जात्यादिभेदं मन्यन्ते इत्याह-जिन्हीति। यवनतद्भिन्नयोर्मतद्वयं दर्शयतियथाब्राह्मणादिवर्णानां सन्ध्योपासनादिधर्मः श्रुतिसिद्धान्तश्च, एवं यवनानां कलिमानामकः सिद्धान्तग्रन्थः, तं पठन्ति। कुदरति तैरपि परोक्षं खोजि=संशोध्य, आत्मस्वरूपं न प्राप्यते। कर्मति। आत्मज्ञानं विना, कर्म ते=कर्मतः कर्तृत्वेन सर्वेऽभिमन्यन्ते वेद=विप्रादीनाम्। कितेब=यवनग्रन्थः सब रीता=आत्मज्ञानपूर्णाविव, तथापि न जानन्ति। कर्म ते=शास्त्रे वेदे च गर्भाधानप्रभृतिदेहस्य कर्माण्युक्तानि। ततो जन्मोत्तरं नामकरणादीनि, तत उभयाः यवनस्य सुंनतिः=लिंगाग्रच्छेदः विप्रस्य जनेऊ=यज्ञोपवीतधारणादिकर्मत एव। अत उभौ भेऊ=आत्मज्ञानं न जानीतः। ततः शरीरं कथमुत्पद्यते इत्याह—पानीति। यथा जलवायुसंयोगाद्बुद्बुदोत्पत्तिरेवं मातृपित्रोर्लोहितशुक्रद्वारादेहोत्पत्तिः, अत एतद्भिन्नम्। शून्य हि=शून्यमेकान्तस्वरूपं सुरतिश्रुतिप्राणघोषबोधकं वस्त्वेव सत्यम्। तत्र जातिवर्णभेदो भ्रमकल्पित एवेत्यर्थः॥ ३९॥

यवन और अन्य भी कर्ममार्ग में प्रवृत्ति के कारण ही जाति आदि मानते हैं। उनका कलीमा पढ़ना वैसा ही है जैसा ब्राह्मणों का सन्ध्योपासन। किन्तु आत्मज्ञान के बिना ये सभी व्यर्थ हैं। ब्राह्मणों में यज्ञोपवीत और सोलह संस्कार, उसी प्रकार यवनों में सुन्नत—इन सब की प्रवृत्ति कर्म से ही है। कर्म ही जाति और वर्ण के भेद का प्रवर्तक है।

रमैनी-४०

आदम आदि सु (सू) धि नहिं पाई। मा मा हवा कहाँ ते[1] आई।
तब[2] नहिं होते तुरुक औ हिन्दू। माय के रुधिर पिता के बिन्दू॥
तब नहिं होते गाय कसाई। तब कहु विस्मिल किन्ह[3] फुरमाई॥
तब नहिं होय कुल अव[4] जाती। दोजक भिस्ति कवने[5] उतपाती॥
मन मसले की शुद्धि[6] न जाने। मति भूला न दुइ[7] दीन बखाने॥

---

१. मामा हौवा कहँ ते।
२. तहिया (आगे की प्रत्येक पंक्ति में भी)।
३. किन।
४. औ।
५. दोजख बिहिस्त कौन।
६. मन मुसले की खबर।
७. मति भुलान दो।

संजोगे कागुण रवे, वीयोगे गुण जाय ।
जिभ्या स्वारथ कारणे, मे नल[८] कीन्हों बहुत उपाय ।।४०।।

आदमेति । आदम=विश्वाभिमानी जीवः । स्वस्य आदि=आत्मानुभवं, सुधि=निश्चयं, न जानाति । मा=जाग्रदस्था, पुनः मा=स्वप्नावस्था, हवा=सुषुप्त्यवस्था,—एताश्चिदात्मनि कुत आयान्ति ? आत्मसुखे यवनतद्भिन्नजातिविशेषोनास्ति । मातुर्लोहितं पितुः शुक्रमेतदुभयात्मनि नास्ति । तब=तत्रात्मनि, गाय=इन्द्रियाणि, कसाई=तद्वशकर्ता विज्ञानवान्, एतदुभयमद्वितीये आत्मस्वरूपे नास्ति । तत्रात्मसुखे विस्मिल=कर्म, वक्तुं किन्ह=कुतः स्फूर्तिर्भवति ? कुल=जात्याद्यपि तत्र नास्ति । यस्यात्मस्वरूपस्तस्य दोजक=नरकः, भिस्ति=मोक्षश्च नास्ति, उभयोरप्यविद्याजन्यत्वात् । 'अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतप्रभावात्' इति श्रीमद्भागवते ब्रह्मोक्तेः । मन मसले=भ्रान्तचित्तस्य, सुधि=आत्मस्वरूपं न स्फुरति, अतो यवनतद्भिन्नावुभावपि दीनौ=नाना कथा वदतः । संजोगेति देहोऽहमिति योगादभिमानः स्याद्वियोगे देहात्परोऽहमिति मत्वात्मैव भवति । अतो जिह्वादोन्द्रियादिविषयभोगार्थमनेकोपायाः कृता इत्यर्थः ।। ४० ।।

विश्वाभिमानी जीव आत्मानुभव से विहीन ही होता है । आत्मा में जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ नहीं होतीं । वहाँ न इन्द्रियाँ, और न उनका वश करने वाला ही होता है । इसी कारण कर्म की स्फूर्ति भी नहीं होती । आत्मा तो अद्वितीय है, उसमें स्वर्ग और नरक भी नहीं है । भ्रान्तचित्त को उसकी स्फूर्ति नहीं होती । संयोग और वियोग देह के ही धर्म हैं । इसी कारण जीभ के स्वाद के लिए अनेक पदार्थ और विषय-भोग हैं । ये सभी कल्पित ही हैं ।

रमैनी-४१

अंबु के रासि समुद्र के[१] खाई । रवि शशि कोटि तेंतीसों भाई ।।
भँवर जाल महँ आसन माँडा । चाहत दुख सुख संग न छाँडा ।।
दुःख के मर्म काहू नहि पाया । बहुत भांति के जम[२] बौराया ।।
आपे बाउर आप सयाना । हृदये बसे ते राम न जाना ।।
तेई हरि तेइ ठाकुर, तेई हरि के दास ।
न जम उहाँ नहि जामिनी,[३] भामिनि चली निरास ।। ४१।।

---

८. ये दो शब्द अधिक हैं ।
१. कि (दोनों स्थलों पर) ।
२. जग ।
३. याम भया नहि यामिनी ।

अम्बुके इति । अम्बु के=मस्तकात्पादपर्यन्तं देहोऽहमित्यन्तः करणेऽविद्याजलमेव व्याप्तम् । समुद्र के खाई=अविद्यारूपसागरस्य खाई=अभिमान एव गर्तः । रवीति । सर्वा देवता देहे एव सन्ति । आत्मज्ञानं विना भ्रमजाले देहोऽहमित्यासनं निश्चित्य, माँऽाँ=देहत्रयभोक्ता भवति । चाहतेति । परमानन्दं जीव इच्छति, मलिनवासनां न त्यजति । दुःख के इति । अज्ञाननाशाय केचिन्मुमुक्षवो विद्यां लभन्ते, केचिन्न लभन्ते । अविद्ययाऽनेककल्पनया ज्ञात्रादित्रिपुट्यां जीवो भ्रमति । आत्मज्ञानं विना शास्त्रे दक्षोऽपि स्वयं भ्रमति । आत्मा तु स्वस्मिन्नेवास्ति, तं न जानाति । अतो मुमुक्षुर्बाह्यध्यानादि विहायात्रैव हरिदासादिकल्पनमस्तीति यो निश्चिनोति, तस्य यमरागद्वेषौ यामिनो=अविद्या निशा च नश्यति । तुद्धिनिराशाभवतीति[४] भावः ॥ ४१ ॥

अभिमान के गर्त में पतित व्यक्ति देह के मोह में फँस कर आपादमस्तक जलप्लावित रहता है । वह जान नहीं सकता कि सभी देव देह में निवास करते हैं और उनका दर्शन मलिन वासना के त्याग से ही सम्भव है । जीव अविद्या के कारण, ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान इस त्रिपुटी में भ्रमण करता रहता है और शास्त्र जान कर भी अज्ञान के कारण यह ज्ञान उसे नहीं होता । शरीर से मोह और बाह्य रागद्वेष छोड़ने पर ही अविद्यारूप निशा का नाश हो कर ज्ञान-सूर्य का उदय होता है ।

रमैनी-४२

जब हम रहली[१] रहल नहिं कोई । हमरेहि माँह रहल सर्व[२] कोई ॥
कहहो राम कवन[३] तोर सेवा । सो समुझाय कहहु मोहिं देवा ॥
फुर फुर कहत मार सभ[४] कोई । झूठहि झूठा साधुति होई ॥
आँधर कहे सभे[५] हम देखा । तहाँ डिठियार[६] बैठि मुख पेखा ॥
एहि विधि कहौं मानु जो कोई । जस मुख तस हृदये जो होई ॥
कहहिं कबीर हंस मुसकाई । हमरे कहले[७] छूटिहहु भाई ॥

---

४. पोथी में 'तुद्धि'-ये दोनों अक्षर स्पष्ट हैं, किन्तु अर्थ-ज्ञान का अभाव ही है ? तर्हि (?) ।

१. रहलि ।

२. सब ।

३. कौन ।

४. मारु सब ।

५. सबै ।

६. डिठार ।

७. कहल ।

जब इति ! यदा मनुष्योऽहमिति बुद्धिस्तदा चिदात्माहमिति वृत्तिर्नोत्पद्यते । यदात्मभासस्तदा मनुष्योऽहमित्यपि न भासते । उभयोर्विरोधात् । हमरे इति—आत्मज्ञाने सर्वं लीयते इत्यर्थः । चिदात्माहमित्यैक्यमेव तव सेवा । सो='तत्त्वमसोति विविच्य शान्तो भवतीदमेव विचार्यम् । 'आवां देवौ दिव्यरूपौ भवावः' ।

फुर फुर=तदहमित्यद्वयसत्यं यदि वदति, तर्हि द्वैतवादी मार=कुप्यति, अरुचेरिति भावः ! झूठ हि—नानादृश्यानात्मपदार्थेषु अज्ञानेनैव साधुति=आसक्तो भवति । अत आत्मप्रकाशो न भवतीत्यर्थः । आँधर—आत्मज्ञानहीनः, द्वैतपक्षे चतुरो भूत्वा नानावाक्यैर्मया दृष्टमिति वदति । तहाँ=स्वात्मसुखे, दिठियार=निश्चित्यात्मानं दृष्ट्वा, मुख पेखा=तूष्णीं वाणीमनोभ्यां भिन्नोभवतीति भावः ।

एहि विधि=चिदात्मैवाहमिति यद्वदामि, कोई—कश्चिन्मानुजो प्रमाणयति । जसेति । यथा मुखेन वदति, तथैव हृदि यदि निश्चिनोति, तर्हि इ[८]— स्वानन्दलक्ष्मीवान्भवति । कहहीति । कबीरः महात्मा, कीदृशः ? हंसः शुद्धब्रह्मस्वरूपः । मुसुकाई=प्रसन्नमुखः सन्नित्थं वदति—भो मुमुक्षो, हमरे—मम, कहले=उपदेशादविद्याकृतदेहाभिमानान्मुक्तो भविष्यसीति । यतो देहाभिमान एव संसारमूलम् । तदुक्तमध्यात्मरामायणे श्रीरामेण लक्ष्मणं प्रति-'देह एव हि संसारवृक्षमूलं दृढं स्मृतम् । तन्मूलः पुत्रदारादिसङ्गमः पान्थसङ्गमः' इति । तस्माद्देहाभिमानं जानीयादिति भावः ।।४२।।

"मैं मनुष्य हूं" यह धारणा जब तक रहती है तब तक चिदात्मा का भास नहीं होता । और इसी से बुद्धि भी नष्ट हो जाती है । आत्म-ज्ञान में सब का विलय होता है । अतः 'तू वही है' इस उक्ति का मनन करना शान्तिप्रद है । अद्वैत का सिद्धान्त मान्य होने पर भी द्वैत-वादी से झगड़ा सामने है ही । यहाँ मौन साधना ही ठीक है । 'चिदात्मा' इस शब्द का उच्चारण ही पर्याप्त नहीं, उसका ध्यान भी करना चाहिए । ध्यान करने वाला ही महात्मा है, वह हंस है, शुद्ध-स्वरूप है; वह देहाभिमान से मुक्त हो जाता है ।

रमैनी-४३

जिन्हिजीव[१] कीन्ह आपु बिश्वासा । नर्क[२] परे ते नर्क हि वासा ।।
आवत जात न लागे बारा । काल अहेरी साँझ सकारा ।।
चौदह विद्या पढ़ि समुझावे । अपने मरन कि खबर न पावे ।।

---

८. इ=एषः ।

१. जिव ।

२. नरक ।

जाने जीव[3] का परा अंदेसा। झूठे आय के कहा सँदेसा ॥
संगति छोड़ि करे असुरारा[4] । उबहे मोट जर्क के भारा ॥
गुरुद्रोही मनमुखी,[6], नारी पुरुष विचार[7]।
ते नर चौरासी भ्रमि हे[8], जो लगिचंद्र दिवाकर[9] ॥४३॥

जिन्हीति। जिन्हि=यैः जीवोऽहमिति निश्चयः कृतः [ते] नानानारकोयोनिषु नरके पतन्ति। आवत जात=गतागतस्य वारा=पारो न ज्ञायते। कालेति। कालस्तु दिनरात्रिभ्रमामायुर्हरति। चतुर्दश विद्या अधीत्यापि आत्मनो देहाभिमानरूपमरणस्य ज्ञानं न भवति। जाने इति। जीवोऽहमिति यो जानाति सः अदेशा=चिदात्मकरूपो यो देशस्तद्भिन्नमदेशं=कुदेशं, परे—गच्छन्ति।

झूठे इति। दारासुताद्यनतसुखं सत्यमित्यन्योन्यं वदति। संगति=सं—सम्यक् गतिः=आत्मज्ञानम्, विहाय असुरारा देहाद्यभिमानं करोति। असुरवृत्तीति, गुरुद्रोहीति। गुरुर्ब्रह्मवित्, तं (तस्मै) द्रुह्यति, स च पुनः, मनसुख—वर्णाद्यभिमानवान्। इयं नार्यय पुरुष इति भिन्नधीर्यस्य स यावच्चन्द्रदिवाकरौ तिष्ठतस्तावच्चतुरशीतिलक्षयोनिषु भ्रमति, स्वात्मज्ञानराहित्यादिति भावः ॥४३॥

मैं जीव हूँ, मैं देह हूँ, मैं पुरुष या स्त्री हूँ—यह बुद्धि रखने वाले नारकीय योनियों में ही जाते हैं। दारा, सुत आदि का अभिमानी और गुरुद्रोही ये सभी आत्मज्ञान से पृथक् ही रहते हैं और चौरासी योनियों में भ्रमण करते हैं।

रमैनी-४४

कबहुँ न भयउ संगसत स्वच्छा[1]। ऐसो जन्म गमायेहु[2] आछा ॥
बहुरिन पैहो ऐसी ढामा[3]। साधु संगति तुम नहिं पहिचाना ॥
अब तो रहिये होन कर्म मँह[4] वासा। निस दिन रहेउ लबार के साथा ॥

---

३. जिव।
४. झूठ आनि के।
५. अस रारा=ऐसा ही विवाद।
६. इसके पहले 'औ' है।
७. नारि पुरुष विविचार।
८. भरमहीं।
९. चन्द दिनकार।
१. औ साथा।
२. गमायो।
३. पैहहु ऐसो थाना।
४. होइ नरक महँ।

जात सभन्हि को देखिये,[५] कहहिं कबीर पुकारि ।।
चेतवा होय तो चेतहु, नहिं तो[६] दिवस परतहै धार ।।४४।।

कबहुं इति । कदापि तव सतां=निर्मलानां सत्सङ्गः स्वच्छो=निर्मलो न जातः, येन चित्तस्य सङ्गो न भवेत् । आछा=चिदात्माहमिति भावनमेव जन्मशुद्धवृत्युत्पत्तिः । तत् गमाये=निकटस्थशकरागतचिन्तामणिवत्कथं विस्मरसि ? नरदेहे एवात्मप्राप्तिः स्यात् । पुनरितरयोनौ न लभ्यते साधुसङ्गतिः-साधूनां ब्रह्मायुतानां सदसि सम्यग्गतिरात्मज्ञानं त्वया न ज्ञातम्, अत इतः परं नरक एवावासं कुरु, यतः, भोः चिद्रूप, लबार=सङ्कल्पविकल्पात्मकमनसः सङ्गेऽहर्निशं कथं तिष्ठसि ? जातेति । सर्वे गताः, पश्य । अद्यापिजागृहि । यदि न मन्यसे तर्हि दिने चौरभयवन्नरदेह एवाज्ञानतस्करेणालुण्ठितो भविष्यसीति भावः ।।४४।।

हे संकल्पविकल्पात्मक मन के साथी, कभी सत्संग नहीं किया, जिस से 'मैं चिदात्मा हूँ' इस भावना का उदय हो सके । यह नरयोनि में ही सम्भव है । अज्ञान रूपी तस्कर से भयभीत हो कर सत्संग में अनुरक्ति कर । देख, अनेक इस संसार से चले गए ।

रमैनी-४५

हिरण्यकशिपु रावण गौ[१] कंसा । कृष्ण गये सुरनर मुनि वंसा ।।
ब्रह्मा गये मर्म नहिं जाना । बड़ सभ गेल[२] जे रहे सयाना ।।
समुझिन परल[३] राम को कहनो । निर्बक दुध की सर्वक[४]पानी ।।
रहिगो पंथ थकित भौ पवना । दशो दिशा उजारि भोग बना[५] ।।
मीन जालभौ ई संसारा । लोहे के नाव पखान के[६] भारा ।।
खेवै सभे मर्म हम जानी । तै वो कहे रहे उतरानी ।।
मछरी मुख जस केंचुवा, मुसवन्हि महँ गिरदान[७] ।
सपनि माँह गहेजुवा, ऐसे जात देखिये सभनिकोजान[८] ।। ४५ ।।

---

५. सबन कहँ देखिया ।
६. 'नहिं तो'-अनावश्यक है ।
१. हिकणा कस ।
२. बड़े सब गे ।
३. परी नहिं ।
४. निरबक दूध कि सरवक ।
५. भो गवना ।
६. पाषाणक ।
७. गिरदान ।
८. जात सबन कहँ जान ।

अथ सर्वेषां देहधारिणां देहा नष्टा इति मत्वा तदभिमानं त्यक्त्वामानं चिन्तयेत्याह=हिरण्येति । हिरण्यकश्यपादीनां देहा नष्टा एव । मुनयो=मनन-शीलास्तद्देहाः, वंशाः=सोमसूर्यवश्यानां राज्ञां देहाश्च नष्टा इति भावः । ब्रह्मेति ब्रह्मा=शास्त्रवादिनः स्वात्मज्ञानं विना गताः । महान्तश्चतुराश्च गताः ।

समुझीति । आत्मज्ञानस्य वार्ताज्ञानां न लभ्या । निर्बकेति । आत्मैवाह-मिति निर्विकल्पं दुग्धवच्छुद्धं स्वरूपामृत त्यक्त्वा देहोऽहमिति जले सर्वे निमज्जन्ति । रहि गो पवना—प्राणापानग्रन्थिर्यदा मुच्यते, तदा पन्थ=देहो नश्यति । दशो दिशा=दशेन्द्रियविषयभोगाद्देहो रहितो भवति मीनेति । मीन-रूपोऽयं लोको देहाभिमानरूपे जले पतति । लोहनौः—शरीरम्, तस्मिन्नभिमान-रूपशिलाभारः । तं सर्वे वहन्ति, अन्यैभ्यो मोक्ष जानीम इति वदन्ति । तेऽपि शास्त्रवादिनस्तद्द्वारा वदन्ति । उतरानी=अभिमाने तिष्ठन्ति ।

कचुवा-कूर्ममुखे यथा मत्स्यस्तश्हंकारं विदार्य सर्पमुखे मूषकः, जुवा=तारुण्याभिमानी मूषकतुल्यो जनः, यद्वा मुसवन्हि महं=सकण्टकमूषकः सर्पमुखे पतितः सर्पं विदार्य बहिर्याति, यद्वा कश्चित् (किञ्चित्) भक्षणेन मीनो मृत्युं याति……[६] गहेजुवा=छुछुंदरीजातिः सर्पेण गिलिता चेत्, तं रोगयुक्तं करोति । तद्वत्सर्पतुल्याविद्यामुखे गच्छतीत्यर्थः ।।४५।।

सभी का देह तो नष्ट होता ही है । हिरण्यकशिपु, रावण, कंस, कृष्ण, सुर, नर, मुनि आदि के वंश, शास्त्रवादी ब्रह्मा, चतुर लोग— सब के देह नष्ट हो गए । 'मैं देह हूँ' इस भावना के जल में सभी डूब गए, केवल उनकी हवा रह गई । मीनरूपी यह लोक देहरूपी जाल में फँसता है । शरीर लोहे की नाव है, उस में अभिमानरूपी पत्थरों का भार लदा है । "हम मोक्ष का स्वरूप जानते हैं" यह कहने वाले भी फँसते हैं, जैसे कछुए के मुँह में मछली । तू अविद्या के मुख में जा रहा है, जैसे साँप के मुँह में मेंढक, चूहा या छिप-कली ।

रमैनी-४६

विनसे नाग गरुड गलिजाई । विनसे कपटी औ सतभाई ।।
विनसे पाप पुण्य तिन्हि[१] कीन्हा । बिन से गुण निर्गुणजिन्हिचीन्हा ।।
विनसे अग्नि पवन औ पानी । विनसे सृष्टि कहाँ लै गनी[२] ।।

---

६. यहाँ पाँच अक्षर कटे-पिटे और अस्पष्ट हैं ।

१. जिन ।

२. गानी ।

विष्णु लोक विनसे छन माहीं । हम देखत प्रले[3] की छाँही ।।
मच्छ रूप माया भई, जबरा खेले अहेर ।
हरिहर ब्रह्मा नहिं[4] ऊबरे, सुर नर मुनि केहि केर ।।४६।।

एतदेव दृढ़यति-विनसे इति । नागगरुडौ—ज्ञानाज्ञानौ[5] सदसद्भावौ पापपुण्ये च, सगुणं निर्गुणं च, अग्निजलादिसृष्टिः, अनेक ब्रह्माण्डानि, विष्णुवादिनां वकुण्ठादिलोकाश्च—एतत् सर्वं नष्टम् । सुषुप्तौ चाव्याकृते[6] नष्टमेव । हम देखत-अहं चिदात्मैतत्सर्वं पश्यामि । प्रलयो छायेव । अतो मायाकृतसर्वप्रपञ्चरूपं मत्स्य कालो भक्षयति । हरिहरब्रह्मादीनां, मुनीनां चापि देहा नश्वराः, अन्येषां का वार्तेत्यर्थः । अत एतेषु नश्वरेषु यदविनाशि तदेव चिदात्मस्वरूपं चिन्तयेत्यखिलश्रुतितात्पर्यमिति भावः ।।४६।।

परब्रह्म की सुषुप्ति में, जब सारा संसार अव्याकृत हो जाता है, तब अज्ञानरूपी नाग, ज्ञानरूपी गरुड़, पाप-पुण्य, सगुण-निर्गुण, अग्नि, जल आदि से उत्पन्न सृष्टि, सभी ब्रह्माण्ड, वैकुण्ठ, आदि सब नष्ट हो जाते हैं। केवल सर्व-द्रष्टा चिदात्मा ही रहता है। प्रलय छाया के समान है। काल माया-कृत सारे प्रपंच का भक्षण कर जाता है। हरि, हर और ब्रह्मा के भी देह नष्ट हो जाते हैं। ये सब नश्वर हैं। केवल चिदात्मा अविनाशी है। उसी का स्मरण कर। यही वेदों का तात्पर्य है।

रमैनी-४७

जरासंध[1] सिसुपाल सँहारा । सहस्त्रार्जन छल ते[2] मारा ।।
बड़ छल रावन से हो गेल बीती[3] । लंका रहल कंचन के भीती ।।
दुर्योधन अभिमान हि गयेऊ ! पांडव केर भेद न हिं पयेऊ ।।
माया के डिंभु गेल सभ[4] राजा । उत्तम मध्यम बाज न बाजा ।।
छव चकवे वीति धरनी[5] सभाना । एकहु जीव प्रतीति न माना ।।

---

३. हौं देखा परलय ।
४. ब्रह्म न ।
५. कदाचित् शत्रुत्व बताने की दृष्टि से यहाँ पुल्लिंग का प्रयोग किया है।
६ तम् ।
१. सत्य ।
२. सहसा अर्जुन छल सो ।
३. सो गौ बीती ।
४. डिम्भ गेल सब ।
५. छौचकवे विति धरनि ।
६. हि ।

कहाँ ले कहौं अचेतहु[6] गयेऊ। चेत अचेत झगरा एक भयेऊ॥
ई माया जग[8] मोहिनी, मोहिन सभ जग झारि।
हरिश्चन्द्र[9] सत के कारणे, घर घर सोक विकारि॥४७॥

जरासन्धेति। जरासन्धादयोऽसुराः सर्वे चिद्रपा एवात्मानं विना बहूनां दुःखदातारो बभूवुः। तत्र रावणोऽभिमानेन रामवीर्यमज्ञात्वा रामभार्यां हृतवान्; सोऽपि नष्टः। तथा दुर्योधनः पाण्डवानां धर्मसत्यपराक्रमादिगुणानज्ञात्वैव तांश्छलयित्वा नष्टः। येषां यशोऽपरे चोत्तममध्यमजघन्या राजानः परवीर्यमज्ञात्वैव नष्टाः, येषां यशो भुवि विस्तृतम्। अन्ये च चक्रवर्तिनो गताः। कोऽपि मायायाः पारं न गत इत्यर्थः। स्वरूपाज्ञानात्।

ई मायेति। ई माया जगन्मोहिनी, अतः स्वात्मारामाः परमहंसाः साधवो निर्माेयेऽचले स्वानन्दरूपे तिष्ठन्ति। लोकं मृगतृष्णावत् दृष्टवोपरमन्ति इति भावः। 'तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गो मृषा'। इति श्रीमद्भागवतप्रमाणादात्मैव सत्यं वस्तु, नान्यदित्यभिप्रायः॥ ४७॥

आत्मज्ञान के अभाव से जरासन्ध और शिशुपाल ने सब को कष्ट दिया रावण ने सीता हरी, दुर्योधन ने पाण्डवों के बहुश्रुत पराक्रम को नहीं जाना। ये सभी चिद्रूप होने पर भी अभिमान के कारण ही नष्ट हुए। इसी प्रकार और चक्रवर्ती नरेश भी चले गए। यह सब उस मोहिनी माया का प्रभाव है। स्वात्माराम परमहंस साधु इस माया से मुक्त और अचल स्वानन्द में मग्न रहते हैं।

रमैनी-४८

मानिकपूर कबीर बसेड़ी। महति सुनी सेषत[1] की केरी॥
वोजे सुनी जवनपुर[2] थाना। झूसी सुनी पीरन[3] को नामा॥
इकईस[4] परि लिखे तेहि ठामा। खतमा पढे पैगंबर नामा॥
शून्य[5] बोल मोहिं रहा न जाई। देखि मोकरबा रहे भुलाई॥

---

७. झगर इक।
८. है।
९. हरिचन्द।
१. बसेरी; मदत, शेखतकी।
२. ऊजे सुनि यमनपुर।
३. सहर पिरन को।
४. एक्किस।
५. सुनि।
६. हुंको।

हवी नवी नवी को[१०] कामा । जहां ले अमल सो सभी[७] हरामा ।।
शेष अकरदी शेष[८] सकरदी, मानहु वचन हमार ।
आदि अन्त औ जुग जुग,[९] देखहु दृष्टि प्रसार ।। ४८ ।।

मानिकेति । मानिक=माणिक्यवत्प्रकाशकः, पूर=सर्वत्र पूर्णः कः=कवल्यरूपो, वो=हंसः, वि-शब्दस्य पक्षिवाचकत्वात् शुद्धस्वरूपः, रः=तेजोरूपः, रकारस्य वह्निबीजकत्वात् । बस=वसन्ति सर्वाणि भूतानि यस्मिन्निति सर्वभूतवासः । इड़ी=इड़ाभिधनाड़ीप्रवर्तकः, ईदृश आत्मेत्यर्थः । ° तथा महति =मूलप्रकृतिमहदादीनां सहायकः । सुनी=मायाविद्याभ्यां रहितश्चिद्रूपः शून्यस्वरूपः । शेषसर्वलयेऽप्यविनाशी । 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठे'ति पुच्छभूतः । तकी=सर्वसाक्षिकः परमसुखरूपः । सुनी=सुष्ठु आत्मस्वरूपं नयति, प्रापयतीति सुनी=यवनः । पादरहितोऽतिवेगवान् । 'अपाणिपाद...' इत्यादि श्रुतेः । पुरथाना=पुरेषु देहेषु स्थानं=स्थितर्यस्य सः—पुरुष इत्यर्थः । तथा सुनी=शून्यरूपे यस्मिन्नात्मनि पीरनिको नामा महदादीनि नामानि । झूसी=मृषैव, तथा यस्यात्मनो ज्ञानं विना कश्चित् एक इषः (?) पोरपरोक्षं नैयायिको वदति, यतः तेहि ठामा=तत्तच्छात्रेषु गौतमादिभिः लिखे=लिखितम्=पैगम्बर गतमादिभिः कथिता ये शब्दास्तान् 'खतमा' निश्चिन्वन्ति सर्वे । कुत इत्यत आह—बोल=तेषां वाक्यं मोहि=चिदात्माहमिति ज्ञानेन । शून्य रहा=शून्यरहितमस्ति, अतो न जाई=ज्ञानं नोत्पद्यते इत्यर्थः ।

देखि इति । बाह्यवाणीं दृष्ट्वा, मोकरबा=शास्त्रज्ञाः स्वस्वरूपं विस्मृत्यान्धकूपे पतन्ति । ह=प्रसिद्धः । बी=शुद्धः, नवीन=नित्यैकरस, बीको=विशिष्टा । ई=मायाऽविद्यायुता सा प्रकृतिः; तस्याः कामा=कान्तः स्वामी; स न ज्ञायते इति शेषः । जहां ले=सर्वेष्वमलः=निर्मलः—तद्गतमलरहितः, सो=तत्, सब=सर्वे, ह निश्चये, रामा=आत्मरूपा एव । कीदृश आत्मेत्यत आह शेषेति । शेषः=चरमः । अकरदो=अक्रियः, शेष सकरदी । आत्मत एव सर्वाः क्रियाः भवन्तीति । जुग जुग=युगे युगे एवमात्मस्वरूपं ज्ञेयमिति मे वचो मानयेति ब्रह्मविद्या वदतीति भावः ।।४८।।

(४८-४६ संख्या वाली रमैनियाँ यहाँ छोड़ दी गई हैं । प्रस्तावना देखिए) ।

---

७. जहँ लगि अमल सु सवी ।

८. शेख ।

९. उतपति परलय ।

१०. इस सारी रमैनी में व्याख्याकार ने शब्दों को तोड़ मरोड़ कर केवल पाण्डित्य-प्रदर्शन किया है । 'कबीर' शब्द का अर्थ भी विचित्र और ध्यान देने योग्य है; उसी प्रकार मानिकपुर' का भी ।

रमैनी-४९

दर की बात कहहुँ दरवेसा । पातसाह के कवने[1] भेसा ।।
कहाँ कूच कहाँ करे मोकामा । मो तोहि पूछूँ मूसलमाना ।।
लाल जरद की ना (ता) ना वाना । कवन सुरति के करे सलामा ।।
काजी काज करहु तुम कैसा । घर घर जबह करावेहु वैसा[2] ।।
बकरी मुरगी किन्हि फुरमाई । किसके कहे तुम छुरी चलाई ।।
दर्द न जाने पीर कहावे । वेदा पढ़ि पढ़ि जग समुझावे ।।
कहहि कबीर एक सय्यद[3] कहावे । आपु सरीखे जगु कबुलावे ।।

दिन धरतु हे रोजा,[4] राति कुहत है[5] गाय ।
ई खुन वे बंदगी, क्यों करि खुसो खोदाय[6] ।। ४९ ।।

अथ यवनानामध्यात्मज्ञानाभावात्तेषामपि तच्छास्त्रोक्तोपासनं व्यर्थमेवेत्याह-दरकीति । दर को=अन्तरात्मनःवर्तमाद्वारं (?)[7] बात=वार्तां, दरभेसा-तन्मतचतुरात्मानो वदन्ति; तथापि पातसाह=आत्मा, तस्य भेसा=स्वरूपं कथमिति न जानन्ति । कूँच=प्रयाणोत्थानं, मुकाम=प्राणस्थिरता कथमिति पृष्ट सति, मूसलमाना=लौकिके चतुरोऽपि किं वदति ? लाल=रक्तः, जरद=पीतेत्यादिवर्णमध्ये आत्मनः को वर्णः ? कोऽपि नेत्यर्थः । अतः सूरति=कीदृक्स्वरूपस्यात्मनः, सलामा=वन्दनं कर्तव्यम् ? काजी=यथा पुराणवक्तारो ब्राह्मणेष तथा कुराण (न) नामक तद्ग्रन्थवक्तारोऽपि कीदृशं कार्यं कुर्वन्ति ?

घर घर=गृहे गृहे, जबह=हिंसां कुर्वन्ति, तथा बकरी=अजा मुरगी=कुक्कुटा, इत्यादि जीवेषु कस्याज्ञया छूरो=शस्त्रं धारयन्ति; दर्द=दयां न जानन्ति । पीर=गुरवो लोके कथ्यन्ते । वेदाः यथा वेदास्तथा केतबाख्यस्तद्ग्रन्थः, तमधीत्यान्यान् घि (शि)क्षयन्ति कबीर=साधवो महाजनाः (च) एवं वदन्ति—यथा ब्राह्मणादिचत्वारो वर्णाः, तथा यवनमते सय्यदादयश्चत्वारो मुख्याः । तत्र सय्यद इति लोके प्रसिद्धोऽपि आत्मवदेवान्यान्लोकान् ज्ञानं शिक्षयति । दिनेति । यथा ब्राह्मणानामेकादशीव्रतं तथा तन्मतेऽपि प्रतिगुरुवासर-दिने 'रोजा' इति प्रसिद्धं व्रतं कुर्वन्ति । रात्रि=रात्रौ, गाय=गावः कुहतु=हिंसन्ति । अतः इत्थं,

---

१. कौने ।
२. वैसा (भैंसा) ।
३. सयाद ।
४. दिन को रोजा रहत हो ।
५. हो ।
६. खुदाय ।
७. ये अक्षर स्पष्ट हैं किन्तु अर्थ ज्ञात नहीं होता ।

सून=हिंसां कुर्वन्ति । वे वंदगी=रोजादिव्रतोपासनम्, अतो हिंसाप्रायकर्मत्वात् खोदाय=ईश्वरस्य, खुसी=प्रीतिं, क्यों करि=कथं सम्पादयन्ति ? अपि आत्मज्ञानाभावात्सर्वं तेषां व्यर्थमेवेति भाव: ।।४९।।

रमैनी-५०

कहइत मोहिं भेल जुग चारी । समुझत नाहिं मोर सुत नारी ।।
वंश हिं आगु भर्म भूला नल लागु बसै जरिया भर्म भूला नर धंधे परिया ।।
हस्ति के फंदे हस्ति[1] रहई । मृगा के फंदे मृगा रहई ।।
लोहहि लोह काटि जस आना[2] । त्रिया के तत्व त्रिया पे जाना ।।

नारि रचंते पुरुष, पुरुष रचंते नारी (रि) ।
पुरुष हि पुरुषा जो रचे, ते विरले संसारा[3] ।। ५० ।।

कह इति । जुग चतुर=चतुर्णां युगम्, अष्टौ पृथिव्याद्यष्टकम्: तस्य मूलं मलिनवासना ता जहीति । यद्वा, सत्यादि चतुर्युगानि कथयत एव गतानीत्यर्थ: । समुझेति । सुत=मन:, नारी=ईहा, मोर=अहंकार:, एते आत्मानं न जानन्ति । वंशमूल=वासना आत्मज्ञानाग्निना भस्मसाद्भवति । यद्वा, वंश=स्वगोत्रकुलादि त्यक्त्वा साधुनिकटं गत्वा तदुक्तं स्वीकृत्य पुन: स्वगोत्राद्यभिमानं कुर्वन्ति, तह्र्यात्मानमेव दहन्ति, आत्मनाशं कुर्वन्तीत्यर्थ: । 'स वै वाताश्यपत्रय' इति वचनात् । नर-वर्णादित्यक्त्वा पुनस्तदेव मन्यते सोऽज्ञ: । हस्तिप्रपञ्चाऽविद्या; तत्पाशेऽविद्यायां मन एव गजो बध्यते, अज्ञानेनेति शेष: । यथा मृगबन्धने मृगो बद्ध: ।[4]

लोहेति । सयाना=आत्मज्ञानी, लोहं=मोह पाशं, लोहहि=ज्ञानखड्गेन छिनत्ति । त्रिया=मायायास्तत्त्वानि माययैवेति ज्ञेयम् । नारी=अविद्या, तस्यां जीवो गत: । पुरुषे अविद्या च पुरुषमेव य: पुमाञ्जानीयात्स प्रपञ्चे विरल: । कश्चिदेवेत्यर्थ: ।।५०।।

मन को वश में करने की बात युगों से की जाती है किन्तु मन, ईहा और अहंकार (सुत, नारी और मोह) को समझना कठिन है । ये सभी आत्मा को नहीं जानते । वासना (वंशमूल) आत्म ज्ञान रूपी अग्नि से भस्म होती है । वर्ण आदि में अभिमान करना भ्रम ही है । अविद्या हथिनी रूपी प्रपंच है । वह मन्मथ के समान हाथी को भी बाँध लेती है । उसे ज्ञानाग्नि से भस्म करना ही अभीष्ट है । आत्मज्ञानी ज्ञानाग्नि की तलवार से मोह के लौह-पाश का उच्छेद कर डालता है । यह जानने वाला इस प्रपंच से दूर ही रहता है ।

---

१. के फन्दे हस्ती ।
२. काटु जस आना; जस काटु सयाना ।
३. संसारि ।
४. 'बध्यते' अधिक उपयुक्त है ।

रमैनी-५१

जा कर नाम अकहुवारे[1] भाई । ता कर काहा (ह) रमैनी गाई ।।
कहे एक[2] तात्पर्य है ऐसा । जस पंथी बोहित चढ़ि बैसा ।।
है किछु रहा (ह) नि गहनि को बाता । बैठा रहे चला पुनि जाता ।।
रहे वदन नहिं स्वाँग सुभाऊ । मन अस्थिर नहिं बोले काऊ ।।

तन रहित (ते)[3] मन जात है, मन रहि [ये][3] तन जात ।
तन मन एके होय रहे, तब[4] हंस कबीर कहाय ।। ५१ ।।

जाकर इति । अकहुवा=अकथ्यः, 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति श्रुतेः, ताकर=तस्य कथा का वक्तव्या ? तथापि तात्पर्यं=विचारमेव वाणी प्रवर्तते, यथा पथिको नदीं प्राप्य पारं गन्तुं नौकारूढो भवति, तद्वत् । रहनि=आत्मज्ञानम्; गहनि=गूढं, शान्तिरूपमेव श्रुतिर्वदति । बैठा=चिदात्मा सदा स्थिरः देह=आगमायापी[5] (आगमापायी) ।

रहे इति । स्वाँग=स्वभावस्याकारैश्चिता(न्ता)दिभिः वदनं=मुख्यात्मज्ञानं न भासते । मनोऽस्थिरम् । सङ्कल्पविकल्पाभ्यां चित्तं यदा स्थिरं भवति, तत्कमपि न ब्रवीति; शान्तो भवति । तन रहते=देहोऽहमिति [भावनां] त्यक्त्वाऽऽत्मैवाहमित्यस्मिन् मनो गच्छति, तद्रूपं भवति । मन रहित तन= आत्माहमिति शुद्धाहंकारः मन आदिकारणो देहः समाधौ गच्छति; तन=देहत्रयम्, मनः शुद्धस्वरूपं विचारयति, तदा हंसः-शुद्धः इति कबीर=प्रचण्डज्ञानं वदतीत्यर्थः ।।५१।।

परमात्मा वाणी के अगोचर है, उसकी स्तुति कैसे की जाय ? फिर भी, उसका विचार में वाणी का प्रवर्तन होता ही है । आत्मज्ञान गूढ़ है । वह चित्त की स्थिरता से ही प्राप्त होता है । मन कारण शरीर है । वह चंचल है । वह समाधि (एकाग्रता) से स्थिर होता है । कबीर कहते हैं कि शुद्ध एकाग्र मन द्वारा विचार करने पर ही विशुद्ध एवं हंस-स्वरूप आत्मज्ञान उद्भासित होता है ।

रमैनी-५२

जाहि कारण शिव अजहुँ वियोगी । अंग विभूति लाय भो जोगी[6] ।।

---

१. 'रे' अतिरिक्त है ।
२. के ।
३. रहये ।
४. ह्वै रहे; 'तब' अनावश्यक ।
५. इसका प्रयोग भगवद्गीता (२, १४) में आया है ।
६. जिहि, मूल में जहि; दुरुस्त किया-'जाहि', जो छन्द में दोष-युक्त है ।

शेषसहस्र मुख[2] पार न पावे। सो अब खसम सही समुझावे ।।
वो यसी[3] विधि जो मो कहँ धावे। छुटये माह सो दरसन पावे ।।
कवनेहु भाव दिखाई देऊ। गुप्त हि[4] रहो सुभाव सभ लेऊ ।।

कहँहि कबीर पुकारि के, सभ को ईहे[5] विचार।
कहा हमार माने नहीं, तो कैसे छूटे भ्रम जाल ।। ५२ ।।

जाहोति। जायते इति जा; अविद्याया: कारणम्। आत्मैवाहमिति शिवोऽद्यापि वियोगी-विशेषेण युक्तो भवति। अंगेति। यस्याङ्गे=शरीरे, विभूति=पञ्चभूतानि लाय=गृहीत्वा, योगी=योगयुक्ता भवन्ति। शेषेति। यन्माया-विस्तारं वर्णयितुं शेषोऽपि न शक्तः। सो=तत्, अब=अद्य, खसम=आकाशवदखिलेष्वनुस्यूतः। सम=आत्मैवाहमिति समुझावे=विचारयेत्। तद्ब्रह्माहमिति विचारेण यो मां ध्यायति, स छुटये=जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयाभ्यः परत्र तुरीयातीतायामवस्थायां, दर्शन=आत्मदर्शनं प्राप्नोति। कवने इति। आत्मैवाहमिति भावनेन स्वस्मिन् स्वस्य दर्शनम्, नान्येन केनाप्युपायेनेत्यर्थः।

गुप्तः=सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरः। सुभाव लभेऊ=सर्वस्वभावानां स्वरचितपदार्थानां लय आत्मन्येव भवति। तत्र श्रुतिः-एवं ह वै सर्वं परे आत्मनि प्रतिष्ठते'। पृथिवी च पृथिवीमात्रा च, आपश्चापोमात्रा च, तेजश्च तेजोमात्रा च, वायुश्च वायुमात्रा च, आकाशश्चाकाशमात्रा च। चक्षुश्च द्रष्टव्यं च, श्रोत्रं च श्रोतव्यं च, घ्राणश्च घ्रातव्यं च, रसश्च रसयितव्य च, त्वक्च स्पर्शयितव्यं च, वाक्च वक्तृयितव्यं च, हस्तौ चादातव्यं च, पादौ च गन्तयितव्यं च, पायुश्च विसर्जयितव्यं च, उपस्थं चानन्दयितव्यं च, मनश्च मन्तयितव्यं च, बुद्धिश्च बोद्धयितव्यं च, अहंकारश्चाहंकारतव्यं च, चित्तं च चेतयितव्यं च, तेजश्च द्योतयितव्यं च प्राणश्च विचेष्टयितव्यं चेति। कहहीति। कबीर=श्रुतय एवं वदन्ति-सर्वेषामयमेव मार्गः। अस्माकं वचो यदि लोका न मानयिष्यन्ति, तर्हि भ्रमजालात्कथं मुक्ता भवन्तीत्यभिप्रायः ।। ५२ ।।

जिस के विचार में शिव आज भी वियोगी हैं और शेष अपने सहस्र मुखों से जिसका वर्णन नहीं कर सकता, वह ब्रह्म आकाश (ख-सम) की तरह सब में अनुस्यूत है। स्वयं को आत्मा मान कर मेरा ध्यान करने वाला सभी अवस्थाओं (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) में मेरा दर्शन करता है। सभी पदार्थों का लय आत्मा में ही होता है। कबीर कहते हैं कि परमात्मा सब का विचार रखता है और इसी प्रकार (उसी की सेवा से) भ्रम जाल दूर

२. सहसमुख।
३. ऐसी।
४. कौन हु, गुप्ते रहि।
५. सब का उहे।

हो सकता है। (यहाँ व्याख्याकार ने विस्तार किया है और हिन्दी भाषा के शब्द तोड़ मरोड़ कर संस्कृत में उपयुक्त करके अपना पाण्डित्य प्रदर्शन किया है, जैसे रमैनी संख्या ४८-४६ में)।

रमैनी-५३

महादेव मुनि अंत न पाया। उमा सहित उन्हि[1] जनम गमाया॥
उनहू ते सिद्ध[2] साधक कोई। मन निश्चल कहु कैसे के[3] होई॥
जब लगि तन महँ[4] आहे सोई। तब लगि चेति न देखे कोई॥
तब चेतिहु जब ते (त) जिहहैं[5] प्राणा। भयो अयान[6] तब मन पछताना॥
अ(इ) तना सुनत निकट चलि आई। मन के[7] विकार न छूटे भाई॥
तीनि लोक मुवा को[8] आय के, छूटी न काहू को[9] आस।
एक ही आँधरे जग खाया, सभ का भया निपात्[10] (त)॥५३॥

महादेवेति। शरीरत्रयावस्थात्रयपञ्चकोशप्रकाशको जीवो महादेवः। मुनिर्ज्ञानस्वरूपः। तस्य अन्त=नाशो नास्ति। उमा=चिच्छक्तिः, ब्रह्मविद्या, तत्सहित आत्मा, तेन जन्ममलिनवासना नाशिता। उन्हउ=ब्रह्मणः साधकं यत् ज्ञानं, तेन कश्चिदात्मैवेति सिद्धो भवति। मनेति। आत्मज्ञानं विनाऽन्योपायेन[11] मनो निश्चलं न भवति। जब लगि=यावच्छरीरेऽहंधीस्तावच्छून्यता, तब लगि=तावत्कश्चित् स्वात्मान न पश्यति।

तब इति। यावत्प्राणो वासनामयं देहं त्यजति, तदा निर्मुक्तो भवति भयेति। यदि नृपोनावात्मानं न विचारयसि, तर्हीतरयोनौ पश्चात्ताप करिष्यसि इतना सुनत इति। आत्मैव सर्वमिति ब्रह्मविद्योपदेशाच्छ्रुत्वा बुद्धिः निकटं स्वरूपे

१. उन।
२. से सिध।
३. निश्चय; 'के'-अतिरिक्त।
४. में।
५. चेति हो; तजि हो।
६. भया यान।
७. 'के'-अतिरिक्त।
८. महँ।
९. छूटि न काहु कि।
१०. एक अँधरा जग खाइया, सब का भया विनाश। गायन के समय या लिखने में शब्द किस प्रकार विकृत हो जाते हैं उसका एक उदाहरण यह सारी रमैनी है
११. 'आत्मज्ञानं विहाय' या 'परिहृत्य' यह पाठ समीचीन जँचता है।

प्रविशति। ई=इदं विश्वम्, अस्य भा=प्रकाशकश्चिदात्माहमिति विचारं विनान्योपायेन मनोविकारो न नश्यति। तिनीति। शरीरत्रयात्, मूवा=मुक्तो भूत्वा, आत्मानं निश्चित्य, कोऽहं ? सच्चिदानन्दोहमिति प्राप्य, आय के= साक्षाद्भूत्वा चिन्न मुच्यते, देहोऽहमिति, आँधरो=अज्ञानम्; अनेनैव सर्वेषा मन्धकूपे पतनं भवतीति भावः ।। ५३ ।।

तीनों शरीर, तीनों अवस्थाएं और पांचों कोश के प्रकाशक जीव महादेव हैं। मुनि ज्ञानरूप है। इन दोनों का अंत नहीं होता। उमा (चित्शक्ति और ब्रह्मविद्या के साथ निवास करने वाली आत्मा) जन्म-मलिन वासना का नाश करती है। ब्रह्म का साधक ज्ञान है। उससे बिरली ही आत्माएँ सिद्ध बनती है। पापी मन आत्मज्ञान के बिना निश्चल नहीं होता। जब तक शरीर में 'अहं बुद्धि है, तब तक शून्यता ही है और तब तक आत्मदर्शन नहीं होता। वासनामय देह छोड़ने पर ही निर्मुक्ति होती है। नर-योनि में आत्मा का विचार नहीं किया तो अन्य योनियों में पछताना ही पड़ेगा। इतना सुनते ही बुद्धि अपने निकट के रूप में प्रवेश कर जाती है। मैं इस विश्व का प्रकाशक चिदात्मा हूं इस विचार के बिना अन्य किसी उपाय से मनोविकार नष्ट नहीं होता। शरीर-त्रय से मुक्त होकर, आत्म-निश्चय द्वारा, मैं कौन हूं ? सच्चिदानन्द हूं, यह विचार करना अभीष्ट है। अज्ञान स्वयं अन्धा है और इसीने सब को अन्धकूप में डाल रखा है।

रमैनी-५४

मरिगौ ब्रह्मा काशीकेवासी। शिव सहित मुये अभिनामासी[१] ।।
मथुरा के[२] मरिगोकृष्ण गोआरा। मरि मरि गये दशो अवतारा ।।
मरि मरि गये भक्ति जिन ठानो। स गुण महँ जिन्हि[३] निर्गुण आनो ।।
नाथ मछेंदर न छूठे,[४] गोरख दत्त व्यास।
कहही कबीर पुकारिके, ई सभ परे काल के हाथ[५] ।। ५४ ।।

मरीति। आत्मविचारात् काशो=देहः; तद्वासी विश्वाभिमानी जीवो जीवत्वान्मुच्यते। आत्मविचारे 'शिवोऽहमिति' शुद्धोहंकारोऽपि निर्विकल्पे लीयते। मथुरा=मायोपाधिः, तद्वाच्यार्थस्य मरि=त्यागं कृत्वा, गो=अविद्योपाधि-वाच्यार्थस्य त्यागं कृत्वा, जीवत्वेशत्वे त्यक्त्वा, कश्चिदेकत्वम्, कृष्णगुवारा= समोपस्थो निर्विकल्प आत्मैवेत्यर्थः।

---

१. शीव सहित मूये अविनाशी।
२. 'के' अतिरिक्त।
३. सर्गुण में जिन।
४. छुटे नहीं।
५. 'ई सभ'-अतिरिक्त; काल के फाँस।

मरीति। दशावताराः-अवतरन्ति देहे इत्यवताराः=दशेन्द्रियाणि; तान्यात्मनि लीनानि। पुनः मरीति। चिद्रूपोऽहमिति भक्त्या=भजनेन, देहाभिमानो जीवत्वान्मृत्वात्मैव भवतीत्यर्थः। सगुणं सर्वं ब्रह्मैवेति भावने निर्गुणं ब्रह्म यैर्भावनं कृत्वा चित्तं निश्चलं कृतं, तेषामेव सुखमित्यर्थः।

नाथेति। मत्स्येन्द्रनाथादयः स्वस्वरूपानन्दे कुशलास्सन्ति, यथार्थवाक्यकुशलाः। तथा ई सब=इतरे सर्व प्राणिनोवाक्यं वदन्ति। तेषां सभार्यां (?)[६] तद्वदेव भान्ति। तथापीन्द्रियभोगासक्ताः सन्ति। अतः कबीरः-वसिष्ठादयो महान्त एवं ब्रुवन्ति-एतेऽज्ञानाज्जनाः कालपाशेन बद्धा भवन्तीत्यर्थः। यद्वा प्रसिद्धानां ब्रह्मशिवावतारादीनां देहो न स्थितः, नष्ट एव। अतो देहाभिमानं त्यक्त्वात्मैव चिन्त्य इति भावः॥ ५४॥

देह (काशी) में निवास करने वाला विश्वाभिमानी जीवत्व से मुक्त हो सकता है। आत्मविचार से 'शिवोहम्' का ध्यान करने से शुद्ध अहंकार भी निर्विकल्प में लीन हो जाता है। माया और अविद्या की उपाधि में वाच्यार्थ का त्याग करने से जीवत्व और ईशत्व छूट जाने पर निर्विकल्प समीप ही है। तब अवतार रूपी दसों इन्द्रियाँ आत्मा में लीन हो जाती है। मैं चिद्रूप हूं, इस भजन से देहाभिमान जीवत्व से छूट कर आत्मरूप हो जाता है और समस्त संसार ब्रह्ममय है इस धारणा से चित्त निश्चल सुख की प्राप्ति करता है।

मत्स्येन्द्रनाथ आदि स्वरूपानन्द में कुशल थे। अन्य सब प्राणी इस वाक्य का केवल अर्थ ही जानते हैं और इन्द्रियों में आसक्त हैं। अतः कबीर, वसिष्ठ आदि महात्माओं का कथन है कि देवों और प्रसिद्ध व्यक्तियों के भी देह नष्ट हो गए, अतः देहाभिमान छोड़ कर आत्मा का ही चिन्तन करना हितकर है।

रमैनी-५५

गये राम गये[१] लक्ष्मणा। संग न गई सीता अस धना॥
जात कुवेरहि[२] जागु नवारा। गये भोज जिन्हि साजल धारा॥
गये पंडु कुन्ती अस रानी। गए सहदेव जिन्हि[३] मति बुद्धि ठानी॥
सर्व[४] सोने की लंक उठाई। चलन वार कछु संग न जाई॥

---

६. ये तीनों अक्षर स्पष्ट लिखे हैं; उपयुक्त अर्थ ज्ञात नहीं हो सकता।

१. इस शब्द के पहले 'औ' है।

२. कौर वहि।

३. सी रानी; सहदेव हु जिन।

४. सब। उठाया, लाया।

जाकी कु (पु) रिया[५] अंतरिछे छाई । सो हरिश्चंद्र[६] देख नहिं जाई ।।
मु (मू) र्खा मनुसा बहुत सँजोई । अपने मरे अवर[७] लगि रोई ।।
ई नहिं जाने अपनहुँ[८] मरि जैवे । टका दश विटे अवरि ले खैवे[९] ।।
अपनी अपनी करि गये, लागी न काहू के साथ ।
अपनी करि गये[१०] रावणा, अपनी दशरथ नाथ ।। ५५ ।।

अत: विषयवैराग्याय महतां राज्ञामपि देहा: नष्टा:, तेषां कथैवावशिष्टेति सर्वान् भूर्हसतीत्याह-गये इति । रामो लक्ष्मणश्च गतौ; तद्देहौ नष्टावेवेति भाव: । अस=ईदृशी, धना =धन्या साध्वी सीतापि रामेण सह गता[११]; पूर्वमेवेति भाव: । अनेन सहैव सर्वे गच्छन्तीति न नियम:, इति भाव: । ते कीदृशा: ? जात-कुँवर=अतिसुन्दरा:, लागु न वारा=क्षणादेव गता: । भोजराजोऽपि गत: । कीदृश: ? जिन्हि=येन चतुरङ्गिणी सेना, साजल=सालङ्कृता[१२] । पाण्डवानां पिता पण्डुरपि गत: । कुन्ती च राज्ञी गता । अतिबुद्धिमान्सहदेवश्च[१३] गत: ।

सर्वेति । यस्य सौवर्णी लङ्का, तेन रावणेन देहत्यागसमये सह किमपि नीतम् ? सर्वं त्यक्तम् । यो हरिश्चन्द्रो महाराज: सोऽप्यद्य न दृश्यते; गत: । आभूम्यन्तरिक्षपर्यन्तो[१४] यस्य यश: प्रसिद्धं स्यात् (अस्ति) ।

मूर्खेति । अत: हे मूर्खमनुज, बहुविषयासक्तस्त्वं स्वमूर्तिमज्ञायान्यान् रोदिषि । ई नहीति । आत्ममरणं न जानासि । घनसञ्चयं कृत्वा याचित्वा देहं बिभर्षि, अतो भूमिरित्थं वदति-'मयि सर्वे' । ममेति । ममत्वं कृत्वा दशरथस्य नाथो रामोऽपि गत: । रावण पृथ्वादयो गता: । अहंकारस्यापि न जायते इति[१५] । अत इदं महच्चित्रम् । इदं श्रीमद्भागवते परीक्षिते वैराग्याय द्वादश-स्कन्धे दर्शितमेवेत्यभिप्राय: ।। ५५ ।।

---

५. पुरी ।
६. हरिचंद ।
७. और ।
८. इन जाने अपनै ।
९. विभव टका दश और हि खैवे ।
१०. गौ ।
११. यह व्याख्या 'संग न गई' के विरुद्ध है ।
१२. पद्य में 'धारा' स्पष्ट है; उसे छोड़ कर भाष्यकार ने 'सेना' शब्द लिया है ।
१३. सब पाण्डवों में से सहदेव को चुनने का कारण अज्ञात है ।
१४. 'पर्यन्तम्' चाहिए ।
१५. प्रकृत सन्दर्भ में यह वाक्य असङ्गत है । इस रमैनी की साखी में 'समाप्त-पुनरात्तत्व' दोष भी है ।

अत्यन्त सुन्दर राम और लक्ष्मण, साध्वी सीता, धारा के अलंकार भोजराज, पण्डु, रानी कुन्ती, बुद्धिमान् सहदेव, सुवर्ण की लंका का अधिपति रावण, महाराज हरिश्चन्द्र-इन सभी के शरीर नष्ट हो गए। अतः हे मूर्ख, तू अनेक विषयों में आसक्त हो कर स्वयं का विचार न करके दूसरों के नाम से रोता है ?-स्वयं अपना मरण नहीं जानता ? धन के संचय द्वारा या भीख माँग कर देह को भरता है ? सब अपनी-अपनीकर गए, किसी के साथ कुछ भी न गया।

रमैनी-५६

दिन दिन जरे जलनि के पाऊ। गाड़े जाये न उधगे काऊ[1] ॥
कंथ न दे मसखरी करई। कहु दहु[2] भाँति कैसे निस्तरई ॥
अकरम के (क) रे कर्म को धावे। पढ़ि गुणी (णि) वेद जगत समुझावे ॥
छूछा परे अकारथ जाई। कहहि कबीर चित चेतहु भाई ॥

दिने दिनेति। दिन दिन=प्रतिदिनम्, जलनिके=देहाभिमानिनः जरे=जीर्णा-आत्मज्ञान क्षीणा एव भवन्ति। कुतः ? अपाऊ=अहंतां न त्यक्त्वा स्वात्मानं न प्राप्तत्वात्[3]। अतः गाड़े=जन्ममरणरूपे गर्ते, जाय=गच्छन्ति; न उमगे=तद्गर्तादूर्ध्वं स्वानुभवे नायान्ति। अत एव कं=निरीहं, स्वात्मसुखस्य ध-ध्यै चिन्तायां ध्यानं, न दे-बुद्धेर्न ददन्ति, स्व विचारं न कुर्वन्तीत्यर्थः[4]। मसकरी करई=अतो मूढा विज्ञानिनामुपहासं कुर्वन्ति। अतस्ते कैसे भाँति=केन प्रकारेण तेऽज्ञानान्निस्तरन्ति ?

अकर्मेति। अकार्यं कृत्वा सुकमफलं धावे=इच्छन्ति। पढ़ीति। वेदानधीत्यापि लोकान् शिक्षयन्नपि, छूछा=ज्ञानं विना शुष्कः व्यर्थं गच्छति। कबीर-साधव एवं वदन्ति, ई=मायायाः भा=प्रकाशे स्वरूपे चित्तं देहीत्यर्थः ॥ ५६ ॥

देहाभिमानी व्यक्ति आत्मज्ञान के अभाव में अहंता दूर न होने के कारण, प्रतिदिन जीर्ण होता रहता है। वह जन्म-मरण के फेर से अपना उद्धार नहीं कर पाता। उसका ध्यान आत्म-सुख की ओर नहीं जाता। वह विज्ञानी का भी उपहास करता है। वेद पढ़ने पर भी वह शुष्क ही रहता है। कबीर कहते हैं कि यह सब माया-जाल है।

---

१. पाऊँ; डाढे; काऊ।

२. कान्द; कहदइ।

३. स्वात्मप्राप्त्यभावात्।

४. यह विचित्र अर्थ ध्यान देने योग्य है। सं० बी. व. में 'कान्द' पाठ लेकर, उस का अर्थ 'कान' लिया है=कान नहीं देता=(ध्यान के अर्थ में)। इसी प्रकार आगे 'भाई' शब्द का विचित्र अर्थ किया है।

रमैनी-५७

क्रतिया सूत्र लोक एक[1] अहई। लाख चासक[2] आउ (यू) कहई ॥
विद्या वेद पढ़े पुनि सोई। वचन कहत प्रतीछे[3] होई ॥
पहुँचो बात विद्या के पेटा[4]। बाहू (हु) के भर्म[5] भया संकेता ॥
खग खोजन तुम परे,[6] पीछे अगम अपार।
विनु परचे कैसे जानि हो, कबीर[7] झूठा हेऽहंकार ॥ ५७ ॥

अथ क्रत्वादिकर्तारः कर्ममूढाः श्रुतिवाक्यकथनचतुरा अपि तत्त्वं न जानन्तीत्याह-क्रतियेति। एके आचार्या लोके क्रतियायज्ञकर्माणि सकामाः सन्तः कुर्वन्ति कारयन्ति त्वयतः[8] सूत्र जगति पढ़े=ततुं (तन्तु) वदनुस्यूतम्। एक=अद्वितीयम् आत्मस्वरूपं न जानन्ति। लाखेति-अतो लक्षावधिवर्षाण्यायुः कर्मणा भवत्विति स्पृहन्ति। इन्द्रादिलोकेषु वैषयिकसुखभोगार्थमित्यर्थः। विद्येति। उपनिषदोऽप्यधीत्य तत्प्रमाणं कृत्वा वाक्यं वदन्ति; कीदृशं? यथा साक्षादेव, पहुँची बात=सर्वोत्कृष्टां श्रुत्युक्ताम्। विद्या के पेटा=विद्यामन्तर्गर्भयुतां सतामभिप्राय इति लोके दृश्यमानां वदति। भर्मेति। तथापि सङ्केतवाक्येन भ्रमो भवति सन नश्यति। वैराग्यपूर्वकं सद्गुरुसेवनेन सन्देहस्वरूपमात्मप्राप्ति विना भ्रमनाशाभावादिति भावः।

खग खोजे इति। कबीर=ब्रह्मैवं वदति-खग=खे गच्छति स खगः-सूर्यः; तस्य गतिः-कालः दक्षिणोत्तरायणादिविचारं किं करोषि, त्वं निरीहमात्मानं विना परिचे=अज्ञाय (त्वा) असदहंकारं करोषि, तेनात्मज्ञानहीनोऽस्यत आत्मानं जानीहीति भावः ॥ ५७ ॥

यज्ञादि कर्म के पक्षपाती वेदों की दुहाई देने में तो चतुर हैं किन्तु वे वास्तविक तत्त्व से अनभिज्ञ ही रहते हैं। वे केवल सकाम कर्म का प्रतिपादन करते हैं, जसे लाख बरस की आयु और इन्द्र-पद की प्राप्ति। वे नहीं जानते कि राग-द्वेष छोड़ कर सद्गुरु की सेवा करने से ही भ्रम नष्ट होता है। कबीर कहते हैं कि सूर्य (हंस) की गति और काल (उत्तरायण दक्षिणायन) आदि जानने पर भी आत्मज्ञान के बिना अहंकार नष्ट नहीं होता।

---

१. क्रतिया लोक सूत्र इक।
२. पचास कि।
३. प्रत्यक्षे।
४. वेता=वेत्ता।
५. को कम।
६. कहँ तू परा।
७. छन्द के मान से यह शब्द अतिरिक्त है।
८. अर्थ अस्पष्ट; कदाचित् 'तु' अनावश्यक।

रमैनी-५८

तैं सुत मानु हमारी सेवा। तो कहँ राज देउ हो देवा ।।
अगम दुर्गम गड़ देउ छुड़ाइ। अवरो बात सुनहु किछु आई ।।
उत्पत्ति परले[1] देउँ देखाई। करहु राज सुख विलसहु आई ।।
एको बार न होय है बाँको। बहुरि जन्म नहिं होय है[2] ताको ।।
जाय पाप सुख देउ घना[3]। निश्चय वचन कबीर के माना ।।

साधु संत तेई जना, जो माने वचन हमार।
अ (आ) दि अंत औत्पति प्रलय[4], देखउ दृष्टि प्रसार ।। ५८ ।।

अथ वैष्णवादयोऽपि निर्गुणमात्मानमेव जानन्तीत्याह-तैं सुतेति। भोः स्वानन्दतुष्टात्मन्, तै=त्वं, सुत=सर्वत्र सूत्रे मणिगण इवानुस्यूतः मान= सर्ववस्तुषु प्रमाणस्वरूपोऽसि। हमारी सेवा=अस्मदादीनां वैष्णवादीनां सेवा-अर्चनादिकं ये भक्ताः पृथक् पृथक् मत्वा कुर्वन्ति, तत्सर्वमात्मन एव भवति, प्रतिबिम्बस्येव। तदुक्तं श्रीमद्भागवते प्रह्लादेन प्रतिमुखस्य-'यथा मुखश्रीः' इति। अतः पृथग्भावेन येऽर्चयन्ति, तेषामपीप्सितं ददासि, त्वय्यभेदनिश्चयात ! तदुक्तं भगवद्गीतोपनिषदि-'यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्या चलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।। स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्' इति।

तो कहेति। त्वां श्रुतय इत्थं वर्णयन्ति—तथाहि, राज=सूर्यादिषु प्रकाशः— 'यदादित्यगतं तेजः' इत्युपनिषदुक्तेः देवा=माया क्रोडकोऽसि। दिवु क्रीडायाम्। देउ द्यौ इति भाषया (?) स्मृतेर्नामस्मृते विचारं ददासि। ब्रह्मणोऽपि बुद्धिप्रकाशकत्वात् अगम=गन्तुं, प्राप्तुमशक्यः। दुर्गम=वाचो, ममाप्यगम्यः। गड़दे छुड़ाई= जीवानां गड़=देहाभिमानं मोचयसि विज्ञानदानात्।[5]

अवरेति। अन्याः स्मृत्यादयो यद्वर्णयन्ति, लोके [च] यच्छ्रूयते, प्रमाणं क्रियते, उत्पति=उत्पत्तिस्थितिलयास्त्वय्येव वदन्ति, त्वयि एकत्वात्। अतस्त्वं सदैकरसोऽसि। देउ दिखाई=सर्वेषां मुमुक्षूणामात्मत्वात्सर्वत्र प्रत्यक्षोऽसि। करहु इति। स्वरूपानुभवानन्दे राज्यं=विलासं तदुपयुक्तानन्तसुखभोगं त्वं करोषि। आ-समन्तात्, ई=प्रत्यक्षोऽसि। एको वारेति। एकवारमपि तव वाँको= वक्रता न्यूनाधिका न भवति, कलाभिश्चन्द्रस्येवेति भावः। बहुरीति। ताको=

---

१. उत पति परलय।
२. होइ है।
३. बाना।
४. दे० टिप्पणी १।
५. 'तो कहेति' से यहाँ तक अशुद्धियों के कारण अर्थ पूर्णतः स्पष्ट नहीं होता।

एवं यस्त्वां ध्यायति, तस्यां मरे=जन्माविद्योत्पत्तिः, वहुरि=पुनर्नभवति । 'यदि स्म नष्टा न पुनः प्रसूयते' इत्युपनिषदुक्तेः । जाययेति । तस्यैव पापं नश्यति—'येषां त्वन्तर्गतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् । तेषामादित्यवत् ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्' इत्युपनिषदुक्तेः । घना=बहुसुखे, देउ='बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः' इति वयं दास्यामः । निश्चयेति । कबीर=श्रीकृष्णः । तद्वचसि मुमुक्षुणा निश्चयः कार्यः । अतः स साधुः । अत उत्पत्त्याद्यात्मनि कल्पितमिति ज्ञानदृष्टया विचार्य, सदैकरस आत्मैव सत्य इति विवेचनीयमिति भावः ॥५८॥

आत्मा निर्गुण है यह वैष्णव ही जानते हैं । वे उसे तन्तु में अनुस्यूत मणि के समान मानते हैं । उनके द्वारा पृथक्-पृथक् भाव से की हुई अर्चना आत्मा की ही अर्चना है । वे मानते हैं कि आत्मा स्वयं प्रकाश है, क्रीड़क है, अगम्य और अभिमान नष्ट करने वाला है । वही संसार की उत्पत्ति, स्थिति, और लय का कारण है । इस प्रकार ध्यान करने वाले की अविद्या सदा के लिए नष्ट हो जाती है । ज्ञान-दृष्टि से विचार किया तो यही दिखाई देता है । यह मानने वाले ही साधु-सन्त है ।

रमैनी-५९

चढ़त चढ़ावत भड़ हरि[1] फोरी । मन नहिं जाने केकर चोरी ।
चौरा एक मुसे संसारा । बिरला जन कोइ बूझनि हारा ॥
सर्ग पताल भूमि ले वारी । एकै राम सकल रखवारो ।
पाहन होय होय सर्व[2] गए, बिनु भितियन्हि को चित्र ।
जासो कियेहु मिताइयाँ, सो धन भया न मित्र[3] ॥ ५९ ॥

चढ़त इति । शिक्यस्थभाण्डानि यथैकस्योपर्येकं तिष्ठति, एवं जीवस्य मलिना वासना एकपदार्थप्राप्तावन्यदिच्छति; ऐन्द्रपदलक्षणमिच्छति; ततः क्षणादेव जनलोकादिसत्यान्तेषु वर्द्धते इत्यर्थः । सा फोरि=सोऽहमभ्यासेन शरीरावस्थानां च परमात्मस्वरूपं नाशयति, तस्य निष्कामत्वात् । मनेति । मन एव न जानाति, के करे चोरी=क आत्मज्ञानं लुण्ठतीति । चोरी=एको वासनारूपश्चौरः । संसारा=सम्यक्सारभूतमात्मस्वरूपम्, मुषे=हरति । मुष स्तेये । बिरलेति । अतोऽस्य चौर्यज्ञाता कश्चिदेव । स्वर्गेति स्वर्गो माया; पातालमविद्या । उभयत्र पातालरामात्मैव यद्वा प्रसिद्धः । स्वर्गः, पातालं, भूमिश्च कीदृशी ? ले वारी=सागरवलयाङ्किता । पाहनेति । पाहन=अहङ्कारः । तेन सर्वे गताः । बिनु भित्ति=आत्मज्ञानं विना विश्वनानात्वं मन्यते । जासो=येनाहंकार धनेन, मिताइया=मित्रत्वं कृतं स एव शत्रुर्जात इत्यर्थः ॥ ५९ ॥

---

१. भँडहर फोरी ।
२. ह्वै ह्वै सब ।
३. हित्त ।

वासना छींके में एक के ऊपर रखे दूसरे बर्तन की तरह, बढ़ती जाती है। सकाम कर्म से इन्द्र-पद की इच्छा करते ही जन-लोक, सत्यलोक आदि की प्राप्ति की अभिलाषा होती है। यह सब आत्मरूप का नाश है। आत्माबाप्ति निष्काम कर्म से ही होती है। मन नहीं जानता कि कौन चोर है। स्वर्ग माया और पाताल अविद्या है। ये अहंकार रूपी पत्थर से उपजते हैं। अहंकार ही मित्र को शत्रु बना देता है।

रमैनी-६०

छाँडहु पति छाँडहु लबराई। मन अभिमान छूटि तब जाई॥
जन जे[1] चोरी भिच्छा खाही। फरि[2] बिरवा पलुहावन जाही॥
पुनि संपति औ पति के धावे। सो बिरवा संसार ले आवे॥
झूठ झूठ हि के डारहु, मिथ्या[4] संसार।
ताहि कारन मे कहत हों, जाते होय उद्धार[5]॥ ६०॥

छाँडहु इति। पति=मानम्, लबराई=जीवत्व च त्यजताम्। मनेति। अन्यथा मनस्थोऽभिमानो न नश्यति। जनेति। ये शास्त्रज्ञाः साधकाश्च ये जनाः, भिच्छा=भिक्षातुल्यां नीचवासनां खाई=स्वीकुर्वन्ति। फेरीति। फेरी=पुनः, सम्पति=स्वर्गः, पति=मानवलोकः प्राप्यते। सो बिरवा=देहोऽहमिति वासना संसार=जन्म-मृतो ले=आवे=गृहीत्वैवागच्छति। झूठेति। असतो देहादुत्पन्ना मलिनवासनाप्यसती; तां त्यज। ई=अयं संसारो मृषैव। तस्मादद्याहं वदामि यत उद्धार=संसारमुक्तिर्भवति। अतो देहत्रयवासनां त्यक्त्वात्मस्वरूपचिन्तनमेव सारं (रः), नान्यदित्यभिप्रायः॥ ६०॥

जो व्यक्ति देहाभिमान और जीवत्व की भावना छोड़ कर अपनी नीच वासना का दमन करता है, वही मुक्त है, देह ही वासना है, जो संसार में जन्म और मृत्यु का कारण है। संसार मिथ्या है। इससे छुटकारा पाने में ही कल्याण है।

रमैनी-६१

धर्म कथा जो कहते रहई। लाबरि उठि परात[1] हिकहई॥
लावरि विहने लावरि संझा। एक लावरि वसे हृदयो मंझा[2]॥

---

१. जनि लो।
२. फिरि।
३. कहँ।
४. डारहु; यह।
५. उबार।
१. परात=प्रातः।
२. साँझा; माँझा।

रामहु केर मर्म नहिं जाना। ले मत ठानिहि वेद पुराना ।।
वेदहु केर कहल नहिं करई। जरते रहे स्तुति[3] नहिं परई ।।
गुणातीत के गावते, आपहु रहे गमाय[4]।
माटी को तन माटी मिलि गव, पवनहि पवन समाय ।। ६१ ।।

धर्मकथेति । धर्मकथां=वर्णाश्रमधर्मवार्तां, कहते=देहाभिमानेनैव चतुर्विधवाणीमुत्थापयति, तर्हि परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरीति । तदा वैखरी-द्वारा कहई=नानावाक्यानि वदति । लाबरीति सा बुद्धिः, संझा=सायम्, प्रातः लाबरी=असत्कर्मणि विहने—स्वरूपं विहन्ति । मलिनायां विलग्ना भवति । एक लाबर=असद्देहाभिमानी (नं) मनो हृदये वसति । रामहु केर=स आत्मनो मर्मस्वरूपं न जानाति । वेदपुराणादीनां मतैरद्वैतशान्ति जना गृह्णन्ति । वेदहु केर=वेदेनोक्तमप्यात्मविचारं न करोति । जर=निकटमात्मा तिष्ठति, तथापि बुद्धिः सुस्ति=शान्ति न प्राप्नोति, अज्ञानादिति भावः । गुणेति । गुणातीतस्य निर्गुणस्य कथां गायति, तथाप्यात्मानमेव विस्मर्त्ति (विस्मरति), निश्चयाभावात् । देहस्तु नश्वरः । माटी=पार्थिवो देहो मृद्येकीभवति पवने=वायौ प्राणवायु-रिति भावः ।। ६१ ।।

वर्णाश्रम-धर्म का डंका पीटने वाले भी आत्मज्ञान से हीन ही होते हैं। वे जो कुछ कहते हैं उसमें भी हृदय की मलिन वासना बनी ही रहती है। उनकी बुद्धि शान्ति नहीं पाती। वे वेद और पुराण में वर्णित ब्रह्म का वर्णन करते हैं, पर उसका अनुभव नहीं करते। देह नश्वर है, पार्थिव है।

रमैनी-६२

जो तोहि[1] कर्ता वरन विचारा। जन्मत तीनि डाँडि[2] अनुसारा ।।
जन्मत शूद्र मुए पुनि शूद्रा। कृत्रिम जनेउ घालि[3] जग मुद्रा ।।
जो तुहु ब्राह्मण ब्राह्मणि के जाया। अवरि[4] राह दे काहे न आया ।।
जो तुम तुरुक तुरुकनी जाया। पेट हि काहे न सुनति कराया ।।

---

३. सुस्त।
४. कमाय।
१. तैं।
२. दण्ड।
३. घालिय।
३. घालिय।
४. और।

कारी पियरी दूहहु गाई। ता कर दूध देहु विलगाई ।।
छाँडु कपट नल अधिक सयानी। कहहिं कबिर भजु सारँग पानी ।।[५]

जो तोहीति। यद्यकर्तुरात्मनः कर्तृत्वमुच्यते, तदा मायया वर्णादि-विचारः। तथाहि, तीनि डाँडि=त्रिगुणप्रणवद्वारा सर्वप्रपञ्चविस्तारः इति भावः। यदि विप्रादिवर्णः सत्य उच्यते, तदाह-शूद्र एव जायते, मृतश्च शूद्र एव। मध्ये कृत्रिमधारणादिना विप्रो, यदि ब्राह्मणो विशिष्टस्तर्हि भिन्नेन्द्रियात् कुतो नागतः[६] ? यदि यवनेति भिन्नं नाम, तर्हि मातुरुदर एव सून्नतिनामकः संस्कारः कुतो न जातः ? तस्मात् यथा कृष्णरक्तवर्णयोर्भेदो नास्ति, तथा सर्वोऽपि वर्णादि भेदो मायाकृतः। अतः हे नल=नर, कपटं सन्त्यज्यात्मानं भज=सेवस्वेति कबीर=साधवो वदन्तीत्यभिप्रायः ।। ६२ ।।

आत्मा तटस्थ है, वह कुछ नहीं करता। वर्ण आदि का विस्तार माया ही करती है। विप्र भी, जैसा कि कहा है, जन्म से शूद्र ही है। यदि वह जन्म से ब्राह्मण होता तो उसका जन्म मुख से होना चाहिए था (ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्)। यदि यवन भी भिन्न है तो माता के पेट में ही उसकी सुन्नत नहीं होती ? अनेक रंग की गायों का दूध एक रंग का ही होता है। उसी प्रकार सब व्यक्ति एक ही (चिदात्मा) है। उनमें भेद नहीं। कबीर कहते हैं—हे नर, छल-कपट छोड़ कर सारंगपाणि (कृष्ण) का स्मरण कर।

रमैनी-६३

नाना रूप वरन एक कीन्हा[१]। चारी वरन वोहि काहू न चीन्हा ।।
नष्ट गए अबरहि मन दीन्हा[२]। नष्ट भए जिन्हि वेर बखाना[३] ।।
वेद पढ़े परि भेद न जाना। नष्ट भए जिन वेद बखाना[३] ।।
विमलख करे[४] नयन नहिं सूझा। भयो अयान[५] तब किछुवो न बूझा ।।
नाना नाच नचायके, नाचे नट के वेष।
घट घट अविनासी बसे, सुनहु तकी तुम शेष[६] ।। ६३ ।।

५- व्याख्याकार ने यह शब्द छोड़ दिया है।

६. भिन्नेद्रिय=अर्थात् मुख; 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'—ब्राह्मण की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से कही जाती है; उसी के अनुसार।

१. चारि वरण वे काहु।

२. चीन्हा।

३. लिपिकार ने तीसरी पंक्ति का उत्तरार्ध भूल से छोड़ दिया है। सं. बी. ब. मे कहीं कहीं उत्तरार्ध को पूर्वार्ध के रूप में लिया है।

४. विमलरव (पोथी में 'स्व' है।

५. भया यान।

६. इस पंक्ति का उत्तरार्ध पोथी में दाहिने मार्जिन में लिखा है।

नानेति । नानारूपवर्णादि येन कृतं स एक आत्मा । चारि बरन=चतुर्भि-वर्णैः, काहू=अन्यैः कैश्चिदपि, वो=आत्मानं न चीन्हा=न ज्ञातः । नष्टेति सर्वे ज्ञानं विनैव नष्टाः कर्ता न ज्ञातः । पुनर्नष्टेति । अवरहिं मन=आत्मनोऽन्यत्र चित्तं, दीन्हा=दत्तम् । अतो नष्टा एव । यैर्वेद=पठितस्तेऽपि नष्टाः । कुतः ? भेद=मर्म, अन्तर्विचारं न ज्ञातम्[७] ।

विमलखेति । विमलं स्वहृदयाकाशं करोति स आत्मा नयनेन न दृष्टः, अतः अयान=मूर्खो जातः । तब=तदा किमपि न ज्ञायते । नानानाचेति । यो नर्तक इव भटवेषान् नाना कृत्वा नर्तयति, घट घट=प्रतिदेहमव्ययो वसति, तस्यैव शेषत्वम् । स एवावशिष्यते नान्यः । अतः स एवालोच्य इति सर्वं[८] श्रुति सिद्धान्त इति भावः ।। ६३ ।।

रूप और वर्ण के प्रवर्तक तथा हृदयाकाश को निर्मल बनाने वाले आत्मा का पहचान कठिन है । इसी प्रयत्न में अनेक व्यक्ति नष्ट हो गए । आत्मा तो घट घट में व्याप्त है । उसका क्षय नहीं होता । वेदों के सिद्धान्त के अनुसार उसी का अनुशीलन करना चाहिए ।

रमैनी-६४

काया कंचन जतन कराया । बहुत भाँति के मन पलटाया ।।
ज्यों शत[१] बार कहौं समुझाई । तै वो[२] धरा छुबा नहिं जाई ।।
जन के कहे जन रहि जाई । नव निधि सिद्धि तिन्हि पाई ।।
सदा धर्म जाके[३] हृदये बसई । राम कसवटो[४] कसतहि रहइ ।।
जोरे कसावे अनते[५] जाई । सो बाउर[६] अपने बोहराई ।।
ताते परी काल की फाँसो, करहु आपनो सोच ।
जहाँ सन्त तहँ सन्त सिधाय, मिलि रहे धूत हो धूत[७] ।।६४।।

---

७. शुद्ध-अन्तर्विचारो न ज्ञातः ।
८. शुद्ध-सर्वः ।
१. सौ ।
२. रयो ।
४. कसौटी ।
५. जोरे कसावट अन्तै ।
६. बाबर ।
७. यह साखी दोहा-छन्द में नहीं है, जिसके और भी उदाहरण हैं । कदाचित् इसका कारण सामूहिक गायन है । अन्त्यानुप्रास के लिए पाठान्तर-पोंच हि 'पांच' उपयुक्त है ।

कायेति । शरीरमेव सत्यं मत्वा, जतन कराया=तद्रक्षित्वा बहुकल्पं जीवितुमज्ञानी योगचर्यां करोति । बहुभाँति के=अनेक यज्ञादिकर्मभिः देहाभिमानेन मन पलटाया=आत्मरूपाद्धीनं चित्तं करोति । जो सत बार=यः सहस्रवारं श्रुतयः आत्मस्वरूपं दर्शयन्ति, वो धरा=तर्हिव आत्मा कीदृशा ? धरा=चित्तादीनां धरेवाधारः । छुवाव न जाई=चित्तं न स्पृशति । कुत इत्यत आह-जनकेति । यदि मुमुक्षुः सत्सङ्ग लब्ध्वा किञ्चिज्जानाति, तदपि कस्यचिद्-धूर्तस्य वचनात्स्खलितं भवति । नव निधिः-भूरादिनव, तद्रूपा माया=सिद्धिः पाई=अस्त्येव । सदेति-आत्मविज्ञानरूपो धर्मः यस्य हृदि सदा वसति, रामेति-आत्माहमिति कसोटी=अभ्यस्यति स धन्यः । जोरेति । अनते=अज्ञाने गत्वा देहोऽहमिति, कसावे=जीवं बाधयति, स जाई=पुनर्जायते । सो बाउर=स आत्मरूप एव स्वात्मानं विस्मृत्य, अपने=देहं मत्वा, बौराई=मूढो भवति ।

ताते इति । तस्मात्कालपाशे बद्धो भवति; अत आत्मविचारं कुरु । यत्र सन्तस्तत्र सन्तोऽभिगच्छन्ति, धूर्तैर्धूर्ताः सङ्गच्छन्ते इत्यर्थः ।। ६४ ।।

शरीर के मोह में पड़कर अज्ञानी योग-चर्या करता है । यज्ञादि कर्म और देहाभिमान ने उसका मन उलट दिया है । वेदों में वर्णित आत्मा को कोई चित्त-गम्य नहीं कर सकता । सत्संग से ही उसका ज्ञान होता है । तू माया के पाश में बँधा है, आत्मविचार कर ।

रमैनी-६५

अपना गुण के[1] अवगुन कहहू । ई है भाग जे[2] तुम न विचारेहु ।।
तुम जियरे बहुत[3] दुःख पाया । जल बिनु मीन कवन सच पाया ।।
चातक जल हल भरे जो[4] पासा । मेघ न बरसे चले उदासा[5] ।।
स्वाँग धरे भव सागर की आसा । चातक जल हल आसहि पासा ।।
राम नाम ई है निजसारा । अवर सकल सभ झूठ संसारा[6] ।।

---

१. कहँ ।
२. यह अभाग जो ।
३. जियरा बहुते ।
४. आसहिं ।
५. इस और इसके बाद के चरणांश में क्रम-विपर्यय है ।
६. सारू; संसारू ।

हरि उतुंग तुम जात[७] पतंगा। जम के घर कियेहु जोव संगा॥
किंचित है सपने निधि पाई। हिये न समाय[८] कहाँ धरहु छिपाइ॥
हिये समाय छोड़े नहिं पारा। झूठ लोभ औ[९] कछु न विचारा॥
सुमृत कीन्ह आपु नहिं माना। तरुअर तर छल छागर हो य जाना॥
जिव दुर्मति डोले संसारा। ते नहिं सूझे बार न पारा॥

अंधा भयो सभ डोले, का (को) ह न करे विचार।
कहा हमार माने नहीं, तो कैसे[१०] छुटे भ्रमजाल॥६५॥

अपनेति। अपने गुण कहँ=आत्मस्वरूपस्य अब गुण कहहु=मनुष्योऽहमिति किं वदसि? यह=मनुष्यभावना, जे अभाग=तवेदमभाग्यं, जे तुम ना विचारहु=जे (यत्) वर्णाश्रममात्मनो धर्मं न विचारयसि। तुमेति। जियरे—ॠ=गतौ, ज्ञानस्वरूपोऽसि। देह-सङ्गाद्बहुदु:खं प्राप्त:[११]। जल बिनु—यथा मोनो जलं विना सुखं न प्राप्नोति तथा बुद्धिरात्मानमृते। कवन=किम्, सच=सत्यरूपं सुखं प्राप्तमित्यर्थ:। चातक=चित्तं, चैतन्यरूपात्मा खण्डविचारं विना मायारूप जल हल (?) शरीरत्रयं, तत्र भरे=पूर्ण आत्मा, स पासा=निकटे; तद्-ज्ञानं विना चिद्रूप: (चित्तरूप:?) चातक: पिपासित एव शान्ति न लभते इत्यर्थ:।

मेघेति। मेघ=आत्मानन्दरूपं प्रेमामृतं यदि न वर्षति, तदा उदासा=कर्मणि चित्तं शुष्कमेव। स्वांगेति। यदि प्रपञ्चे ईहावान् जीवस्तर्हि स्वाङ्गानि=देहान्बिभर्ति। चातकेति। यथा चातकस्याशापाश:। रामेति-अत आत्मैव सारभूत:। अवरेति। अन्या देहवासना मृषैवेत्यर्थ:। हरि उतुंग=हरिर्वैकुण्ठे इति मत्वात्मानं न जानाति अत: पतङ्गवन्नश्यति।

जमेति। जम=रागद्वेषौ, तयोर्धाम=अन्त:करणे, घर=देहे भूत्वा, दासोऽस्मीति वासनासङ्ग: कृत:, साक्षादात्मानं निधिं त्यक्त्वा स्वाप्निकनिधिवद्बाह्योपासनां करोति। हियेति। इहैव देहे आत्मा व्याप्त:, स कथं छपाई=आवरणं क्रियते? हियेति। देहे व्यापकमात्मानं त्यक्त्वा भवपारो न प्राप्यते। झूठेति। अतो देहलोभोऽसत्। अत आत्मानं स्मृत्वात्मैवाहमिति विचारय। अन्यथा तरुवरो देहश्छलरूप: तस्य छागर=अजातुल्यानीन्द्रियाणि, तद्द्वारा

---

७. जाति।
८. माय।
९. तैं।
१०. किमि।
११. प्राप्त: असि।

भ्रमः। जोवेति। यो दुर्मतिः संसारे भ्रमति, पारं न पश्यति, अतः (सः) अन्धेति। सर्वो जनोन्धो न विचारयति, अस्मदुक्तं न मन्यते यदि, तर्हि भ्रमजालात्कथं मुच्यते इत्यभिप्रायः ॥६५॥

हे जीव, देहाभिमान और वर्णाश्रम के फेर में पड़ कर तू आत्मस्वरूप को भूल गया है। तू स्वयं अखण्ड आत्मा है। यह न जान कर तू प्यासा ही है। प्रेमामृत की वर्षा के अभाव में तू उदास है। चातक जैसी आशा लगाकर चुप है। हरि वैकुण्ठ में हैं यही समझ कर अन्तःकरण के राग-द्वेष से उद्भूत वासना रूपी अग्नि में तू पतंगा बन रहा है। आत्म-रूप निधि को छोड़कर तू बाहरी उपासना में लगा है। आत्मा तेरे हृदय में ही है। देह का लोभ मिथ्या है। इन्द्रियाँ बकरी की तरह है, जो तुझे छलती हैं। यह जान कर भ्रम-जाल से मुक्त हो।

रमैनी- ६६

सोइ हित बन्धु मोहिं[1] भावे। जात कुमारग मारग लावे॥
सो सयान मारग रहि जाइ। करे खोज कबहूँ न भुलाई॥
सो झूठा जो सुत कहँ तजई[2]। गुरु की दया राम ते भजई॥
किंचित् है एक ते भुलाना। धन सुत देखि भया अभिमाना॥

दिया न खत्ता ना[3] किया पयाना, मंदिल भयउ उजार।
मरि गये ते मरि गये, बंचे बंचनहार[4] ॥६६॥

अथात्मानुभववानेवात्मनः प्रियइत्याह—सोईति। सोई=स एव हितबन्धु=हितमित्रं मोहिं भावे=मम प्रियः, जातेतिकुमार्गेऽज्ञानेन गच्छन्तं, सुमार्गं=आत्म-स्वरूपं, लावे=योजयति स एवेत्यर्थः। स एव सयान—चिदात्माहमिति मो (मा) र्गे तिष्ठति; जाई=अज्ञानं गतः। तत्प्रकारमाह—करे खोज=आत्मविचारं करोति, कदाचिन्न विस्मरति यः स एव। झूठेति। सुतपुत्रधनदारादिकमसदिति सत्यं मत्वा जत्यति (त्यजति)। गुर्विति। यस्य सद्गुरुकृपा स एव राम=आत्मानं भजति। किंचित् इति। यदि स्वल्पमपि ते जोवस्याज्ञानं वर्तते। धनेति। अतो धनादिनाहङ्कारो भवति। दियेति। यतः खताना=सत्यस्वरूपं न दिया=बुद्धेर्न दत्तम्, किया पयाना=आत्मरूपात्प्रयाणं कृतम्-च्युतो जातः, अतएव मंदिल=

---

१. छन्दोभङ्ग=मोर मन।
२. झूठा सुत है ताको तजई।
३. न।
४. वाँचनिहार।

देहशून्य एव भाति। मरीति। ये मृताः अज्ञानेन मृतास्ते मृता एव। बचे ये= स्वरूपज्ञानेन जीवितास्त एव जीवन्ति, नान्येऽहंकारिण इति भावः ।।६६।।

वही मेरा हित-मित्र है और वही प्यारा मेरा है जो अज्ञानी को आत्मरूप से योजित करता है। वही चतुर है जो सन्मार्ग की खोज करता है और सुत, दारा आदि को असत् समझ कर उनमें मोह नहीं करता। अज्ञानी, धन आदि की प्राप्ति से अहंकारी हो जाता है। बुद्धि को सन्मार्ग में प्रवृत्त न करने पर व्यक्ति आत्मच्युत हो जाता है और तब देह भी शून्य प्रतीत होने लगती है। अपने स्वरूप को जानने वाला ही जीवित है।

रमैनी ६७

देह हलाये भक्ति न होई। स्वाँग धरे नल[1] बहु विधि जोई ।।
घिंगा घिंगी भलो नहिं माना। जो काहु मोहिं हृदये नहिं जाना ।।
मुख किछु और हृदये किछु[2] आना। सपने काहू[3] मोहिं न जाना ।।
ते दुखये हहु एहिं[4] संसारा। औ चेतहु तो होय अहारा[5] ।।
जो[6] गुरु के निन्दा करहु। सूकर स्वान के जन्मे[7] धरहु ।।

लक्ष चौरासी जिया जन्तु सह, भटकि भटकि दुख पावे।
कहिं कबिर जो रामहिं जाने, सो मोहिं नीके भावे[8] ।। ६७।।

देहेति। देह हलाये=दैहिकचलनस्नानादिकर्मणा भक्तिर्न आत्मस्वरूपविचारो न भवति, स्वाभाविकत्वात्। स्वाँगेति=इदं नटवन्नरः करोति। जोइ= साक्षादेव। घिंगेति। घिंगः=आत्मज्ञानहीनं मनः, घिंगी—आत्मशून्या बुद्धिर्यत्करोति।भलो—सुन्दरं नास्ति (तत्)। यतः जो काहू—येन केनापि हृदयस्थ आत्मा न ज्ञातः। तथाहि—मुखेति। मुखेन वाक्यं वदति सद्भिन्नम्, हृद्यभिप्रायो भिन्नोऽस्ति। तर्हि मोहिं—आत्मा तेन स्वप्नेऽपि न ज्ञात इत्यर्थः। तेन जीवाः इह संसारे दुःखिता भवन्ति। जो चतहु—यदि जानन्ति स्वात्मानं, तर्हि, अहारा—

१. नर।
२. कछु।
३. काहु।
४. पावे यहि।
५. उबारा।
६. जो नर।
७. जन्म सो।
८. पाव; भाव।

भोजनवत् तृप्ता भवन्ति। जो गुर्विति। यो (ये) गुरुम्—आत्मानं निन्दन्ति, ते शूकरादिदेहान् बिभ्रति। अनन्तयोनिषु गत्वा दुःखमनुभवन्ति। कबीर—आत्मा, वदति-यो राममात्मानं जानाति स एव नीके—मम प्रियोः (यः)। आत्मस्वरूप-हीनास्तु विक्षिप्तचित्ताः ते के? ये नभ—नक्षत्रवदनाधारा एव काल पाशेन बद्धा इवानाथाः। नाथ—आत्मा, तद्धीनाः, स्वात्म-ज्ञान हीना इति भावः।

देह हिलाना, स्नान आदि भक्ति से भिन्न हैं। यह सब तो मनुष्य स्वाभाविकतः प्रतिदिन करता ही है। आत्मज्ञान से हीन मन (घिंगा) और आत्मज्ञान शून्य बुद्धि (घिंगी) रखना उचित नहीं। मुख के वचन और हृदय के अभिप्राय में भिन्नता आत्मज्ञान-शून्य का लक्षण है। आत्मज्ञान ही सन्तोषप्रद है। गुरु-निन्दक शूकर-देह में और चौरासी लाख योनियों में भटकता रहता है।

रमैनी- ६८

तेहि वियोग ते[1] भयो अनाथा। परे निकुंज वन[2] पावे न पंथा॥
वेद नकल कहे जो[3] जाने। जो समुझे सो भलो[4] माने॥
नटवत बंद खेले जो जाने। तेहिका गुण सो ठाकुरमाने॥
वो है खेले सब घट माहीं[5] दोसर के लेखे किछु नाहीं॥

जेहि कर सर लागे[6] सोई जाने पीर।
लागे तो भागे नहीं, तो[7] सुख सिंधु निहार कबीर॥६८॥

तेहीति। ते जनाः, हि-निश्चये, परे इति। त एव निकुञ्ज वन=गहनवन तुल्येऽज्ञाने [8] मार्ग=स्वरूपं न प्राप्नुवन्ति। वेद नकल इति। वेदो नकल=

---

१. ताहि वियोगे भयो।
२. परेउ कुंज वन।
३. जो कोइ।
४. भलो जु।
५. ये दो पंक्तियां सं. बी. ब. में इस प्रकार हैं—
ऊहै खेले सब घट माँहीं। दूसर को लेखै कछु नाहीं।
भलो पोंच जो अवसर आवै। कैसहु के जन पूरा पावै॥
६. जाही कहँ सर लागये।
७. यह शब्द अनावश्यक है।
८. 'वन' शब्द की पुनरावृत्ति अनावश्यक है।

आत्मस्वरूपं मायाद्वारा वदति । निर्गुणम् अजाने=न जानाति—नैव । तदपि यो जीवो जानाति, सो भलो माने=साधुः स धन्यो मान्यः । तथाहि न टेति । यथा नटो जनदृष्टिवन्धं कृत्वा क्रीडति, तथैवात्मा मायया क्रीडति, इति ।

जो जाने=यो जानाति, तेहोति । स ठाकुर=स्थिर आत्मेति माने=विचारयति । तेहि का गुन=तदा तस्य सगुणरूपं किं मन्यते ? नवेत्यर्थः । वोहे इति । स एवात्मा क्रीडतीति सिद्धान्तः, दोसर=द्वैतवादिनः लेखे=विचारे किमपि नात्मस्वरूपं भासते । पोचस, (दोसा)=अतिचतुरो यः अवसर पावे=मानवजन्मकालं प्राप्य, कैसहु=केनापि प्रकारेण पूरा=आत्मा, तं जानाति । तथाहि—जेहोति । यथा लक्षं प्रति बाणास्तथात्मलक्षं प्रति जोवं=रूपं बाण=वेधं करोति यः स एव पोर=गुरुः[६] । लागे इति । यदि लग्नस्तर्हि न भिन्नो भवति । अतः सुखसागरं स्वरूपं निहार=स पश्यतोति भावः ॥६८॥

जो (पूर्वोक्त) जन अज्ञान के गहन वन में भटकते हैं और मार्ग नहीं पाते । माया द्वारा आत्म-स्वरूप जानने वाला भी निर्गुण का ज्ञान नहीं कर सकता । आत्मा नट की तरह माया से खिलवाड़ करता रहता है । मानव जन्म प्राप्त करके जो निर्गुण को जान लेता है वही गुरु है । उसे जानो ।

रमैनी-६९

ऐसा जोग न देखा भाई । भूल फिरे लिये गफिलाई ॥
हरिहर[१] को पन्थ चलावे । ऐसो बड़ो महन्त कहावे ॥
हाट बजारे लावे तारी । कच्चा सिद्धहिं माया प्यारी ॥
कब दत्तात्रेय मवासा[२] तोरी । कब शुकदेव तोपचो जोरी ॥
नारद मुनि कब बंदूक चलाया । व्यास देव कब बब बजाया ॥
करहिं लराई मति के मन्दा । अतोत को तरकस बंधा ॥
भये विरक्त लोभ मन ठाना । सोना पहिरि लजावहि[३] बाना ॥
घोरी घोरी[४] कीन्ह बटोरा । ग्राम पाय जस चले करोरा ॥

---

६. 'परि' के यहाँ दोनों अर्थ लिए हैं—पीड़ा; और गुरु ।

१. महादेव ।

२. देवदत्त मवासी; तोप की ।

३. लजावैं ।

४. घोड़ा घोड़ी ।

संुदरि नाहीं सोभे,[५] सनकादिक के साथ ।
कबहुक दाग लगावे, कारी हंडी लिए हाथ[६] ॥ ६९ ॥

अथ देहासक्तान्कुयोगिनो निन्दति-ऐसेति एवं योगः शास्त्रे न दृष्टो येन भूले=आत्मानं विस्मृत्य, गफिलाई=विचारहोनोऽटेति=अटति । कुयोगिजन इति शेषः ।

हरीति । लोके शैववैष्णवादिमार्गं[७] प्रवर्तयित्वा पूज्यः वश्यते । हाटेति =लोकसमूहे तारी=ध्यानादिकं करोति, सोऽपक्वः । लोभी । तथाहि, दत्तात्रयेण मवासा=दुर्गं कदा मोचितम् ? कबेति । शुकनारदव्यासैः भाषया प्रोक्तं-बन्दूक शङ्खादिवाधरत (तर) कसादिधारण कदा कृतम् ? यथा मन्दाः कलहं कुर्वन्ति । भये इति । विरक्तं सल्लोभयुक्तं मनः सुवर्णालङ्कारं लज्जाकरं धारयन्ति (ति), अश्वादिपशून् रक्षयन्ति (पालयन्ति, रक्ष् पालने), ग्रामादि प्राप्य धनिन ईति (इति) कथ्यन्ते[८] । सुन्दरीति नारीधरणमपि । इत्थंभूता ये कुयोगिनस्तेऽज्ञा एव; यथा कबहूँ=कदाचिदपि कृष्णपात्रधारकः कृष्णो भवति, तथा पूर्वोक्ताज्ञानसाधनेन कुयोगिन एव भवन्तीति भावः ॥६९॥

स्वयं भूले-भटके, विचार-हीन दृष्टि से शैव, वैष्णव आदि की दुहाई देकर पूज्य कहलाने वाले सभी कुयोगी हैं । वे जन-सामान्य के सामने चमत्कार बतलाते हैं । दत्तात्रेय ने कब दुर्ग का मोचन किया था ? शुक, नारद और व्यास ने कब तीर फेंका था बंदूक चलाई थी या शंख बजाया था, जैसा कि मतिमन्द लोग कलह करते रहते हैं । स्वयं को विरक्त कहते हैं, किन्तु मन लोभ में दबा है । वे सोने के अलंकार भी धारण करते हैं, घोड़ा, घोड़ी और नारी भी साथ रखते हैं । ये सब कुयोगी के लक्षण हैं ।

---

५. शोभई ।

६. कारी हाँडी हाथ ।

७. इस व्याख्या के अनुसार उपयुक्त पाठ हरिहर ही है, महादेव नहीं ।

८. यहाँ कोई कथन एकवचन में किया हैं; कोई बहुवचन में । यहाँ लिपिकार का दोष है ।

९. यहाँ और रमैनी के पाठ के अन्त में भी क्रम से संख्या ६८ ६८ दी हुई है ।

रमैनी ७०

बोलना कासो बोलिये, रे भाई । बोलत हि (ही) सभ तत्वन साई ।।
बोलत बोलत बढ़े बेकारा[1] । सो बोलिये जो परे विचारा ।।
मिलहिं (ही) सन्त वचन दुइ कहिये । मिले असंत मौन ही[2] रहिये ।।
पंडित से बोलना[3] हितकारी । मूरख सों परे[4] झखमारी ।।
कहहिं कबीर अर्ध घट डोले । पूरा होय विचार ले बोले[5] ।।

बोलना इति । बोलना-वार्ता केन सह वक्तव्या (कर्तव्या) ? येन सह वार्तया तत्व=अहंकार: नसाई=नश्यति । कीदृशं वक्तव्यमित्यतआह बोलतेति । यद्वदन्विकारो भवति तन्न । जो=यद्वाक्यं विचारो गच्छति, तदेव वक्तव्यम् । मिलहीति । यदि सन्तो मिलिष्यन्ति, तर्हिदुइ वचन=किञ्चित्कालक्षपणार्थं युक्ति युक्तं वचो वक्तव्यम् । यद्यसतां प्राप्तिस्तदा मौनमेव कर्तव्यम् । यत: पण्डितेति । पण्डितेन—सदसद्विवेकवती बुद्धि: पण्डा, सा विद्यते यस्य स पण्डित:, तेन सह वचनं हितकरं, सुखकरम् । मूर्खेन सह वचनं तु झखमारी=प्रमाद एव । अत: कबीर=शास्त्राणि वदन्ति—अर्धपूर्णो घट: डोले=चञ्चल:, पूर्ण: स्थिर:, तथा मूर्ख: किञ्चिज्ज्ञ: अभिमानी [च] । अत: पूर्ण घटस्तु न चलति; तत्समेन विदुषा सहैव वाक्यकथनमुचितम्, नान्येन सहेति भाव: ।।७०।।

वार्तालाप उसी के साथ करना उचित है जिस के सहवास से अहंकार जाता रहे । बिचार-पूर्वक बोलना योग्य है । बुरा व्यक्ति मिल जाए तो चुप रहना ही उचित है । बुद्धिमान् के साथ वार्तालाप हितकर है, मूर्ख के साथ प्रमाद, क्योंकि वह अज्ञान और अहंकार से भरा रहता है । आधा भरा घड़ा छलकता है, पूर्ण नहीं ।

रमैनी ७१

सोक बधाव जिन्हि सम के माना[1] ता को बात इन्द्र हु नहिं जाना ।।
जटा तोरि पहिरावे सेली । जोग जुक्ति के गर्व दुहेली ।।

---

१. बाढु विकारा ।
२. हो ।
३. बोलिय ।
४. रहिये ।
५. हूँ ।
१. शोक बधावा सम करि माना ।

आसन उड़ाये कवन बड़ाई । जैसे कौवा[2] चील्हि मँडराई ॥
जैसी भींति तैसी है नारी । राज पाट सम गनै उजारी ॥
जस नर्क[3] तस चंदन जाना । जस बाउर तस रहे सयाना ॥
लपसी[4] लवंग गनै एक सारा । खाँड परिहरि मुख फाँके छारा ॥

इहै विचार विचार से, गये बुद्धि बल चेत ।
दोय मिलि एके होय रा (र) हा, मैं[5] कहि लगाऊँ हेत ॥७१॥

साकेति । शोको=दुःखम् बधाव=आनन्दः; उभौ बन्धन भूतावात्मरूपे यो विलापयति ताकी - तस्य वार्तामिन्द्रः संकल्परूपं मनोऽपि न जानाति । जटेति । जटां=मलिनवासनां तोरि=छित्वा, सेली=शान्तिरूपमलङ्कारं धारयेत् । जोगजुक्ति=आत्मैक्यं योगः, तस्य युक्तिरेव गर्वदुहेली=गवनाशिनी आत्मविद्या । आसन=आत्मस्वरूपम्, उड़ाय=त्यक्त्वा, कवन बड़ाई=वर्ण्यहमित्यभिमानेन किं महत्त्वम् ? किमपि न । अत्र दृष्टान्तः जैसे इति । यथा काकः, चील्हि=गृद्धश्च पक्षविस्तारं कुरुते, तेन कापि कार्यसिद्धिर्न भवति । धर्मजलधारा शीतानि न निवारयन्ति (ति) । यद्वा काकः=मलिनवासना, चील्हि=अज्ञानम्; तद्विस्तारेण किमित्यर्थः ?

भीतीति । यथा भित्तिस्तथा नारी जड़ा ज्ञेया । राजेति । राज्यादिसर्वम् उजारा=ज्ञानशून्यमेव ज्ञेयम् । जसेति । यथा विष्ठा तथा चन्दनं ज्ञेयम् । अस्थिचर्म मांसरुधिरविण्मूत्रादीनां शरीर [मुरुस्त्रीपुरुषयोसृच्कदनालेपनास्वि][6] । बाउर=यथा मूर्खस्तथैव पण्डितः । लपसी=घृतशकराभ्यां पाचितं गोधूमपिष्टस्य खाद्यम् । लवंग-प्रसिद्धा । उभयं सममेव ज्ञेयम् । छारा=लवण तुल्यामविद्यां त्यक्त्वा, खाँड=शर्करासममात्मसुखं मुखे—बद्धौ, फाँके—गृह्णीयात् यद्वा, अज्ञः शर्करासममात्मरूपं त्यक्त्वा लवणसमं देहालङ्कारं करोतीति भावः ।

इहे इति । अनेन ज्ञानेन बुद्धिबलमनांसि, गये=लीनानि भवन्ति । दोईति । देहात्मानौ येन मूढेनैकावेव ज्ञातौ, तमात्मा वदति—अहं तस्य प्रीतिं कथं करोमीति भावः ॥७१॥

---

२. उडये; काग ।

३. नरकहि ।

४. लपसि ।

५. दुइ मिलि एकै है रहा; 'मे'-अतिरिक्त ।

६. कोष्टक में दिए हुए अंश का अर्थ अस्पष्ट है । यह निश्चित है कि शरीर के अन्तर्गत अपवित्र वस्तुओं की तुलना बाह्यालंकारों से की गई । इस अंश में लिपिकार की अशुद्धियाँ भी हैं, जैसे—मुत्र (मूत्र);-क (कच् ?) आदि ।

सुख और दुःख इन दोनों बन्धनों को आत्मा-स्वरूप में लीन करने वाले के विचार संकल्प रूप मन भी नहीं जानता। मलिन वासना का उच्छेद करके शान्तिस्वरूप अलंकार धारण करना योग्य है। आत्म-स्वरूप को छोड़कर, मैं वर्णी हूं यह अभिमान व्यर्थ है। कौआ या गीध का पंख फैलाना बे-मतलब ही है। धर्म-जलधारा शीत का निवारण नहीं करती। मलिन वासना और अज्ञान के विस्तार से कोई लाभ नहीं है।

नारी भीत के समान जड़ है। चतुर व्यक्ति मैला और चन्दन को समान नहीं देखता है। उसके लिए मूर्ख और पण्डित समान है, लपसी और लवंग एक से हैं। लवण के समान अविद्या को छोड़कर शर्करा के तुल्य मधुर आत्मविद्या को ग्रहण करो इस ज्ञान में बुद्धि, बल और मन लीन हो जायेंगे। देह और आत्मा एक ही कहने वाले मूर्ख से स्वयं आत्मा कैसे प्रीति कर सकता है!

रमैनी-७२

नारी एक संसारहिं आइ। माय न वाके वापहिं जाइ॥
गोड़ न मूँड न प्राण अधारा। तामहँ भ्रम भरि रहा संसारा॥
दिना सात ले बाकी सही। बुद अदबुद अचरज क्या[1] कही॥
वाकी वंदनी करे सभ[2] कोई। बुद अदबुद अचरज बड़ होई॥

मूसा (स) बिलाई एक संग कहु कैसे के रहि जाय।
अचरज एक देखहु हो संतो, हस्ती सिंघहि खाय[3] ॥७२॥

नारीति! नारी एका-अन्तर्मलिना वासना। सैव संसारे आगच्छति। तया सहैकोभूय जीवत्वं प्राप्नोतीति[4] भावः। सा कीदृशीत्यत आह-मायेति। तस्या माता नास्ति। वापहि=चैतन्यरूपात्पितुः जाई=जायते। 'ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये। मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥' इति भगवद्वचनादित्यर्थः। गौड़=चरणौ (चरणौ) मूड़=मस्तकं च तस्याः न, अरूपत्वात्। प्राण अधारा=प्राणे एव तिष्ठति। तामह=तस्यां संसारा=सर्वो जनः भ्रमति, यस्मिन्देहवासनास्ति। कीदृगित्यत आहदिनासातेति। दिनासा=त्वक्चममांस-रुधिरमेदोमज्जास्थ्यादिसप्तधातुभिरुत्पन्नो देहो भवति, यद्वा सप्तवारेष्वेव पुनः कर्मकर्तुरित्यर्थः। बुदेति। अस्य देहस्य बुद=असत्वम् अदबुद्=आश्चर्यवत्वं किं

---

१. का।
२. वंदन...सब।
३. 'संतो' नहीं है; सिंह।
४. इस वाक्य में कर्ता (चैतन्य ?) छूट गया है।

वक्तव्यम् ? बाकीति । तस्य बन्दनी=सेवां सर्वे कुर्वन्ति । अदबुद=असत्याश्चर्य-कारिणी या माया, सैव लोके महत्युच्यते ।

मूसेति । मूसा=अज्ञानं, ज्ञानहारकत्वात् । मुष् स्तेये । बिलाई=समता-सर्वलयकर्तृ ज्ञानम्; उभे सहैव कथं वसतः ? शान्तावविद्या कुतः ? एकमिदमाश्चर्यं दृष्टम् । भोः ज्ञानिनः, हस्ती=ज्ञानमेव शान्ति सिंहमज्ञानं भक्षयति । अतो ज्ञाने नैवाज्ञाननाशो, नान्योपायेनेत्यभिप्रायः ॥ ७२ ॥

संसार में एक नारी आई । उसकी माता नहीं हैं और पिता (चैतन्य) ने ही उसे पैदा किया है । उसके न तो पाँव हैं, न सिर (रूप हीन होने के कारण) । प्राण ही उसका आधार है । संसार उसके पीछे घूमता रहता है । उसी से सप्त-धातुमय असत्व शरीर उत्पन्न होता है, वह उसकी सेवा करता है । वही अविद्या है, माया भी । अविद्यारूपी चूहा और सब का लय करने वाला ज्ञान साथ साथ कैसे रह सकते हैं ! ज्ञान रूपी हाथी अज्ञान रूपी सिंह को खा जाता है ।

रमैनी-७३

चली जात देखी एक नारी । तर गागर ऊपर पनिहारी ॥
चली जात वोहि बाटहि बाटा । सोवनिहार के ऊपर खाटा ॥
जाड़न मरे सपेदो सोरी ।[१] खसम न चीन्हे घरणि भौ बोरी ॥
साँझ सकार दिया[२] ले बारे । खसमहिं छोड़ि सवरे[३] लगवारे ॥
वाही के रस निसु[४] दिन राची । पिय से बात कहे नहिं साँची ॥
सोवत छाँडि चली पिय अपना । ई दुख अवदहु[५] कहत कइ सना ॥

अपनी जाँघ उघारि के, अपनी कही न जाय ।
किंचित[६] जाने आपना, को मेरो जन गाय ॥७३॥

चली जात इति । इच्छा विषयेषु गच्छति, यद्वा, एक नारी=श्वासरूपो वायुर्गच्छति; कालवशादित्यर्थः । तर, गागर=घटतुल्या देहाः; तर=अधः सन्ति । पनि=आयुष्यः हारी=हारकः, सूर्य इव कालः; उपरि वर्तते इत्यर्थः । चलोति ।

---

१. सँवरी ।
२. दीप ।
३. रहै ।
४. निशि ।
५. यह शब्द नहीं है ।
६. की चित ।

वोहो=स एव प्राणवायुः, वाट हि वाटा=मूलाधारादिषट्चक्राः, यद्वा कौमाराद्यवस्थासु, गच्छति; प्रतिक्षणं कालः आयुर्हरति। सोवनिहारे के=माया सुप्तस्य ज्ञानिनः, ऊपर खाटा=षड्दानादीनि कर्माणि कालवशस्याज्ञानिन एव, न तु ज्ञानिनः कर्मपाश इत्यर्थः। जाड़नेति। जरायामपि जाड़न=सकामतया, सौरी=सैव जरा; तस्यामपि न निष्काम इत्यर्थः। अतः खसम=आकाशतुल्यमात्मानं न जानाति। घरणि=गृहे गृहे, देहे, बौरी=अज्ञानो भवति। साँझे=सायंप्रातरुपासनादिरूपो दीपः प्रकाश्यते। इदमेव महदिति मन्यते। अतः खसम=व्योमतुल्यमलिप्तमात्मानं त्यक्त्वा, लगवारे=सुतदारादिष्वासक्तो भवति। वाही के=तस्यैव परिवारस्य, रस=प्रीतिम्, अहर्निशं राची=रचयति। पीयसे=आत्मनो वार्ता; साँची=सत्यामपि न वदति। सोवतेति। सो=सः, पिय अपना=प्रियमात्मानम्, छाँडो चलि=त्यक्त्वा देहवासानां (वासनां) गच्छति। वत इत्याश्चर्ये। ई दुःख=इदं दुःखमज्ञानम्, अब दहु=अद्य कई सना=कं प्रति वक्तव्यम्? जारणीवस्त्रपतित्यागं करोति तथैवेति भावः।

अपनीति। यथात्मदेहमनाच्छादितं वक्तुं न शक्यते, तथा स्वात्मसुखं प्रकटं कर्तुं न शक्यते। यत्किञ्चित् श्रुत्यादि वदति तज्जनः=सज्जनो मां गायति, अतदुर्ज्ञेयमित्यर्थः॥७३॥

एक नारी (विषयों में प्रवृत्त करने वाली इच्छा) अपने रास्ते जा रही है। उसके तल में (पाँव के नीचे) षटतुल्य देह है और ऊपर आयुष्य हरण करने वाला सूर्य। वह षट्चक्रों या कौमार्य आदि अवस्था के मार्ग पर चलती है और प्रतिक्षण आयु हरण करती है। माया में सोए हुए अज्ञानी के लिए दान आदि कर्म खटिया के समान हैं (अज्ञानी कर्मवश बँध जाता है) खास कर वृद्धावस्था में। वह अपने खसम (ख-सम—आकाश के समान निर्मल चिदात्मा) को छोड़ कर घर घर घूमती रहती है। सवेरे और साँझ उसके सामने दीपक जलता रहता है। (उपासना के लिए, यही महत् है)। उसके पीछे चलने वाले बहुत हैं (सुत, दारा आदि में आसक्त)। वह उन्हीं की प्रीति में रंग गई है और अपने प्रिय (आत्मा) से बात नहीं करती। यह सब छोड़ो। आत्मसुख अवर्णनीय है।

रमैनी-७४

ताहि साहेब के लागहु साथा। दुइ दुख मेटि के रहहु[2] सनाथा॥
दशरथ कुल अवतरि नहिं आया। नहि लंका के राव सताया॥

---

१. सं. बी. ब. में इसकी संख्या ७५ है। संख्या ७४ पर पोथी की संख्या ८३ की रमैनी दी है।

२. तिहि; द्वि; होहु।

नहिं देवकी के गर्भे आया । नहीं यशोदे गोद खेलाया ॥
पृथ्वी खन[४] धवन नहि करिया । पैठि पाताल नहीं बलि छलिया ॥
नहीं बालि राजा से मांडलि रारी । नहि हिरणाकुसवधल पछारी ॥
वराहरूप धरणी नहि धरिया । छत्री मारि निछत्रि न करिया ॥
नहि गोवर्धन कर गहि धरिया । नहि ग्वालन संग वन वन फिरिया ॥
गंडक शालिग्राम नहिं कुला । मछ कछ होय नहीं जल डोला[३] ॥
द्वारावती शरीर नहि छांडा । ले जगन्नाथ पिंड नहि गाड़ा ॥

कहहि कबीर पुकारि के, वोहि पंथे मति कोइ भूल[५] ।
जाहि राखे अनुमान के, सो[६] स्थूल नहीं अस्थूल ॥७४॥

ताहोति । साहेब=सह मर्शने ज्ञानमात्रो य आत्मा, ताहि=तस्यैव संगः कर्तव्यः, येन दुइ दुःख=जन्म मरणरूपं दुःखद्वयं, मिटे=नश्यति । सनाथा=आत्मवांस्तिष्ठति । यदि देहसङ्गोऽसत्य उच्यते सहर्यवतारदेहा अपि असत्या इत्याह, दशरथेति । दशरथकुले रामोऽवतीर्य रावणो हत[७] इत्यपि कथामात्रमेव । एवमग्रेऽपि ज्ञेयम् । देवक्युदरे कृष्णो न जातः, नापि यशोदया लालित । पृथ्वीरवन=पृथ्व्यादिरूपेणावतीर्य, रमण=पृथिव्यामटनं, धवन=धमनं, शत्रुनाशाद्यपि न कृतम् पाताले बलिर्वामनेन स्थापित इत्यपि न । रामावतारे बालिं न हतवान् । वाराहेण हिरण्याक्षो न हतः । परशुरामो भूत्वा नृपान्न हतवान् । कृष्मा (ष्णा) वतारे[८]गोवर्धनोद्धारो यद्यपि न कृतः; गंडक्यां शालिग्रामोत्पत्तिरपि न । मच्छकच्छपाभ्यामपि वेदोद्धारादि न कृतं, द्वारवत्यां कृष्णेन[९] देहत्यागं कृत्वा जगन्नाथ इति पूर्वस्यां प्रसिद्धो जात इत्यपि नब्रह्मणि ।

अतः कबीर=स्वात्मविचारज्ञाः इत्थं वदन्ति-इदं सर्वं माया, वाणी कथनमात्रमेव । अस्मिन् केनापि विश्वासो न कार्यः । येन देहो रक्षित इति वदन्ति, स तु स्थूलसूक्ष्मरूपद्वयादात्मा भिन्न एवेत्यर्थः ॥७४॥

ज्ञान ही आत्मा है यह जान कर उसी का संग करना उचित है । इसी से जन्म और

---

३. रमन ।
४. मच्छ कच्छ; डूला ।
५. वा पन्थे मति भूल ।
६. जिहि राखेहु । 'सो' नहीं है ।
७. अशुद्ध; 'रावणं हतवान्' चाहिए ।
८. 'ष्म' की लिपिशैली विचित्र है ।
९. अशुद्ध; कृष्णः' चाहिए ।

मरण रूप दुःख मिटेगा। अवतार में भी देह संग होता ही है, अतः वे भी असत्य हैं (यहाँ उदाहरण भी दिए हैं)।

रमैनी ७५[1]

माया मोह कठिन संसारा । इहै विचार न काहु विचारा ।।
माया मोह कठिन है[2] फंदा । होय विवेकी सोइ जन वन्दा ।।
राम नाम ले बेरा ध (धा) रा । सो तोले संसारहि पारा ।।
राम नाम अति दुर्लभ अवरहु[3] ते नहि काम ।
आदि अन्त औ जुग जुग मोहि राम हि ते संग्राम ।।७५।।

पुनरप्येतदाह-मायेति। संसारे माया-कृतो मोहपाशः कठिनः। यो विवेकी भवति, स सर्वदा वन्दनीयः राम एव बेरा=नौका, संसारपारं नयति । धरा= अतः संसारे पतितः। अतो रामनामैवाति दुर्लभम्; अवरहु=अन्येन किमपि कार्यं न। आद्यन्तप्रलये रामेणैव संग्राम=रामनाम्नः सं खुखरूपं ग्रामं-प्रीतिरित्यर्थः ।।७५।।

माया के मोह पाश से छुटकारा कठिन है यह जान लेने वाला वन्दनीय है। राम ही नौका है जो संसार के पार पहुँचाती है। यह नाम दुर्लभ है। आदि, अन्त और प्रलय में इसी नाम से प्रीति करना चाहिए।

रमैनी ७६

एके काल सकल संसारा। एक नाम है जगत पियारा।।
त्रिया पुरुष किछु कथो[1] न जाइ। सर्वरूप जग रहा समाई।।
रूप निरूप जाय नहि बोली। ह लुकन गुरु[2] जाय नहि तोली।।
भूख न तृषा धूप नहि छाहों। दुख सुख रहित रहे तेहि माँही।।
अपरमपारपरम गुरु,[3] ज्ञान रूप बहु भाय।
बहु बंधन ते जोइनि,[4] नहि तेहि संख्या आय ।।७६।।

---

१. सं. बी. ब. में संख्या ७६ दी है। पिछली रमैनी टिप्पणी १ देखिए।
२. जग।
३. औरन।
१. कहल।
२. हलुका गरुआ।
३. अगम अपार रूप बहु।
४. बहुत ध्यान ते जोहिय।

एके इति। एककालमेव सर्वं (सर्वः) प्रपञ्चः सदैकरस आत्मैव; तस्यैव नामविचारो जगति प्रियः—सुखद इत्यर्थः।

त्रियेति। स्त्रीपुरुष कल्पनं किमपि वक्तुं न शक्यते; सर्वरूपेणात्मैव व्याप्तः रूपेति-सरूपो नोरूप इत्यपि कथनं यस्मिन्नास्ति। गुरु=महत्वं हलुक=नीचत्वम् यति व्यवहारोऽपि नेत्यर्थः। क्षुत्तृषादिदेहधर्माः। धूप=उष्णं, छाही=छाया च यत्र नेत्यर्थः। सर्वत्र दुःखरहितोऽतिसुखरूप एवात्मेत्यर्थः। अपरंपारेति। पाररहितो गुरुः—श्रेष्ठः। ज्ञानरूप बहु भाय=स एव बहुरूपत्वं प्राप्तः। बहुबन्धनेति पञ्चकोशेऽतिबहूनि बन्धनानि सन्ति, येषां गणना नास्तीत्यर्थः अत आत्मैव सत्यो नान्यदित्यभिप्रायः ।।७६।।

यह सारा प्रपंच आत्मा ही है। आत्मा सदा एक रस है। वही सुखदायी है और सर्वत्र व्याप्त है, अतः उसमें नारी और पुरुष की कल्पना नहीं होती। वह सरूप है या रूपहीन, भारी है या हलका-यह भी नहीं कहा जा सकता। भूख, प्यास, उष्णता, छाया, ये सब देह के धर्म हैं। आत्मा तो दुःख से रहित केवल सुखरूप है। वह अपरम्पार है। वही अनेक रूप धारण करता है। पंचकोश बन्धनमय है। अतः सत्य आत्मा का ध्यान करो।

रमैनी-७७

मानुष जन्म चुके[१] अपराधी। एहि तन केर बहुत हैं साझी ।।
तात जननि कहे[२] पुत्र हमारा। स्वारथ लागि कीन्ह प्रतिपाला ।।
कामिनि कहे मोर पिय आहे[३]। ब्याघ्रिनि रूप ग्रसे चाहे[४] ।।
सुत कलत्र रहे लव लाये। यमु की नाई[५] रहे मुख वाये ।।
काग गृध्र दोइ[६] मरण विचारे। सूकर स्वान दुइ पंथ निहारे ।।
अग्नि कहे मैं ही तन जारौं। सो न करौ जो जरत उबारो ।।
धरती कहे मोहि मिलि जाई। पवन कहे संग[७] लेऊं उड़ाई ।।

---

१. चूकेहु।
२. कह।
३. अहई (आहें'-लिपिकार महाराष्ट्रीय होने के कारण)।
४. चहही।
५. जम्बुक नित्य। सूत। लौ।
६. गीध दा।
७. मैं।

जेहि[८] घर के घर कहे गमारा। सो वैर[९] है गले तुम्हारा ॥
सो तन तुम आपन के जानी। विषयसरूप भूले अज्ञानी ॥

एतना तन के साझी,[१०]जन्मो भरि दुख पाव।
चेतत नाहीं मुग्ध नल, वउरे[११] मोर मोर गोहराव ॥७७॥

मानुर्षेति। यदि मानवं जन्म प्राप्य, चुके=आत्मानं न विचारयति, तर्हि अपराधी प्रमादी भवति। तथाहि-एहोति। अस्मिन् नरदेहे, साझी=बहवः पुत्रदारादयः सङ्गिनः सन्ति, तदेवाह—पितरौ पुत्रेति मन्येते; स्वकार्यार्थमेव पालयतः। कामिनीति। जायापतिरिति; सापि पाशेन बद्ध्वा ग्रसति। सुतदारादय इच्छन्ति-किञ्चिद्धनमर्जयित्वास्मान्दास्यतीति। यमु के इति। ते मृत्युरिव मुखं दर्शयन्ति, काकगृध्रादयो देहमरणं विचारयन्ति, मांसभक्षणार्थमित्यर्थः। तथैव सूकरादयः प्रतीक्षन्ते। अग्निरहं दहामीति वदति। अतः स तन्न करोति येन दह्यमानोऽपि बहिर्निःसरति। भूरादयोऽस्मिन् लयमिच्छन्ति।

जेहोति। यस्य गृहं मन्यते तदेव शत्रुर्भवति। अतो देहं विषयरूपं जानीयात्। एतैः सङ्गिभिर्यावन्मरणं दुःखमेव। तथापि चेत न जाहीति=तथापि ममत्वं मत्वा न विचारयतीति भावः ॥ ७७ ॥

मनुष्य-जन्म पा कर आत्म-विचार न करना प्रमाद ही है। इस नर-देह के अनेक साझी हैं। माता-पिता इसे अपना पुत्र मानते हैं, इसमें उनका स्वार्थ है। स्त्री मोह-पाश में बाँध कर ग्रसती है। अन्य सम्बन्धियों का भी इसमें स्वार्थ है। काक, गीध देखते हैं कि वह कब मरे और हम इसका मांस खायँ। अग्नि इसे जलाना चाहता है। इस प्रकार, यह देह, जिसे हम अपना समझते हैं; अपना ही शत्रु बन जाता है। इसके साथ जीवन भर दुःख का ही अनुभव होता है। फिर भी, इसमें ममत्व की भावना रहती ही है।

रमैनी-७८

बाढ़त बढ़ो घटावत छोटी। परखत खर परखावत खोटी ॥
केतिक कहौं कहाँ लै कही। अवरो[१] कहो परे जो सही ॥

---

८. तेहि।
९. बेड़ी।
१०. साझिया।
११. यह शब्द अतिरिक्त है।
१. औरो।

कहल बिना मोहिं रहल न जाई। विरही ले ले कूकुर खाई ।।
खाते खाते जुग भया,[2] बहुरि न चेतहु आय।
कहहिं कबीर पुकारि के, ई जीव जीवत ही जाय[3] ।।७८।।

बाढ़ेति। वासना वर्धमाना वर्धते; ह्रसमानाल्पा। खरा=आत्मा, खोटा=अनात्मा। परखेति-सत्यं पश्यति, असत्यं मन्यते। केतिकेति-कियद्वदामि ? यदि सही=परे मानयन्ति, तर्हि सदेव। तथापि कथनं विना न चित्तं मम स्थिरम्। विरहीति। यस्त्वज्ञः स श्वानी[4], रक्तास्थिवद्विषयान् धावति। खातेति। विषयास्वादं। कृत्वा[5] युगानि गतानि तथापि न चेतति। अतः कबीर=साधवस्तं जीवन्मृतं मन्यते इत्यर्थः ।। ७८ ।।[6]

वासना बढ़ाने से बढ़ती है, वह घटाई भी जा सकती है। आत्मा सत्य है, उससे अतिरिक्त सब झूठा है। कहाँ तक कहूँ ? कहे बिना भी मन नहीं मानता। मूर्ख, कुत्ते जैसे खूनभरी हड्डी के पीछे भागता है। विषयास्वादन में युग बीत गए, फिर भी चेतना का अभाव ही है, कबीर (साधु) ऐसे जीवित व्यक्ति को मरा सा मानते हैं।

रमैनी ७९

बहुतक साहस करहुं जीव[1] अपना। ताहि साहेब से[2] भेट न सपना।
खरा खोटा नाहीं[3] परखाया। चाहत लाभ तिन्हि[4] मूल गमाया ।।
समुझि न परल पातरो मोटी। वोछी गाँठि सभे भव[5] खोटी।
कहहिं कबीर का ही देउ[6] खोरी। जब चलिहहु झोंझि[7] आशा तोरी ।।

---

२. युग गया।
३. ई जिव जरत हि जाय।
४. लिङ्ग के मान से यहाँ 'श्वानः' ही उपयुक्त है।
५. 'कुर्वतः' चाहिए।
६. लिपिकार के क्रम से यह संख्या ७९ है।
१. जिव।
२. तिहि साहब सो।
३. खोट जिन नहि।
४. चहत लाभ तिन।
५. सबै भो।
६. किहि देवहु।
७. झिझि। इसके बाद सं. ब. बी. में यह अतिरिक्त साखी है—

झीं झीं आशा महँ लगे, ज्ञानी पण्डित दास।
पार न पावहि वापुरे, भरमत फिरहिं उदास ।।

बहुतकेति । जीवा अज्ञानेन बहु विविधान् यज्ञान् कुर्वन्ति । अतः साहेब= आत्मानं स्वप्नेऽपि न पश्यन्तीत्यर्थं । सत्यं किम्, असत्यं किमिति न ज्ञानम् (ज्ञायते) । चाहते लाभ=लाभमिच्छन् (ता) मूलमात्मैव नाशितः, अतः पातरी= अतिसूक्ष्मत्वान्नैव दृश्यते । वोछी=मलिनवासना देहोत्पत्तीति । अतः सर्वम- सदेव जातम् । कबीर=साधवो वदन्ति । खोरी=अस्य किं दूषणम् ? यतो याव- न्मरणं न वासनां त्यजति; मृतिकाले झीं झि=अतिदुःखेन त्यजति । अतो न मुच्यते इत्यर्थः ।। ७९ ।।

जो जीव अज्ञान के कारण यज्ञ आदि में प्रवृत्त होते हैं, वे स्वप्न में भी आत्म-दर्शन नहीं कर सकते । वे सत्य और असत्य का भेद नहीं जानते । लाभ की इच्छा से मूल ही खो बैठते है । मलिन वासना का त्याग नहीं होता, मरते समय देह दुःख से ही छूटता है । उसकी मुक्ति नहीं होती ।

रमैनी ८०

देव चरित्र सुनहुरे भाई । जो ब्रह्मा सो धिय[1] नसाई ।।
सुनिये रुमा[2] मँदोदरि तारा । तिन्हि के देवर ज्येष्ठ सँचारा[3] ।।
सुरपति जाय अहल्या हि छरो । सुरगुरघरनी चंद्रमा हरी[4] ।।
कहँहि कबीर हरि के गुन गाया । कुन्तीहि कर्ण कुमारीहि जाया ।।८०।।

अथ देवादीनपि वासना बध्नात्यन्येषां का कथेत्याह देवचरित्रेति देवचरित्र- मेवं ज्ञातव्यम् । ब्रह्मापि धिय नसाई=नष्टबुद्धिर्जातः । मन्दोदरीतारे विभीषण- सुग्रीवदेवराभ्यां संगते; बालिना ज्येष्ठेन) रुमां सक्तः[5] । पतिज्येष्ठयोः सक्ते । इन्द्रेणाहल्या छलिता । चन्द्रेण गुरुपत्नी स्वीकृता । अतः कबीर=शास्त्राणि वदन्ति; हरि के=हरिरूपाणां सामर्थ्यवतां गुणा एव गेयाः । यथा कुन्ती[6] कौमारे सूर्यसङ्गमात्कर्णमसूत. व्यासश्च[7] । अत आत्मानमेव जानीया-न्नान्यत्कर्तव्य- मित्यर्थः ।। ८० ।।[8]

---

१. सो ब्रह्मा जो धिया नसाई ।
२. ऊ जे कहे ।
३. तिन घर जठे सदा लगवारा ।
४. अहिल्यहि छलिया ।···धरणि चन्द्रमा हरिया ।।
५. अशुद्ध—'बाली ज्येष्ठो रुमायां सक्तः' चाहिए ।
६. 'यथा'-अनावश्यक । 'कुन्ती' में 'कु' के बाद अनावश्यक आ-मात्रा का चिह्न है ।
७. यह पूरा वाक्य नहीं है । न मूल पाठ में इसका उल्लेख ही है ।
८. क्रम से यह संख्या ६० दी है ।

हे भाई अब देवों (आदि) के चरित भी सुन लो। वासना उन्हें भी बाँधती है। ब्रह्मा की बुद्धि नष्ट हो गई थी। मन्दोदरी उसके देवर विभीषण में और तारा उसके जेठ बाली में अनुरक्त हो गई थी। इन्द्र ने अहल्या और चन्द्र ने गुरुपत्नी से छल किया था। कुन्ती ने कुमारावस्था में कर्ण को जन्म दिया था। कबीर (शास्त्र) कहते हैं कि हरि का गुण गान करना चाहिए। अतः ऐसी अन्य बातें छोड़कर आत्म-ज्ञान करना ही उचित है।

रमैनी-८१

सुख के वृक्ष एक[1] जगत उपाया। समुझि न परल विषे किछु[2] माया ॥
छव छत्री निह पत्री जुग[3] चारी। फल दुइ पाप पुण्य अधिकारी ॥
स्वाद अनंत किछु बरणि न जाई। कै चरित्र सो ताही मांहीं[5] ॥
नट नट सार साजिया। जो खेले सो देखे[7] बाजिया ॥
मोहा बापुरा[8] जुक्ति न देखा। शिव शक्ति विरंचिनहिं पेखा ॥
परदे परदे चलि गए, समुझि परी नहिं बानि।
जो जाने सो बाँचि है, नहिं तो होय[9] सकल को हानि ॥८१॥

सुखेति। सुख के वृक्ष=सुखरूपो यो वृक्षस्तत्कल्पनेनैव जगदुत्पन्नम्। समुझेति। अस्मिन् विषया विषरूपा इति मायया न ज्ञायते। छव छत्रीति। अस्य वृक्षस्य षट्चक्रवर्तिनौ चतुर्युगानि च[10] पत्ररूपाणि, पापपुण्ये फले। अस्य मोहकृतः स्वादः अवर्णनीयः अनेक चरित्राणि सन्त्यस्मिन्। यथा नटो दृष्टिबन्धं कृत्वा सर्वं करोति, स एव जानाति; शिवशक्तिब्रह्मादिकरणं, तथैवात्मन इति भावः। परदे इति मायाजवनिकाच्छन्नं तमात्मानं जो जाने इति-यदि यज्ञकाण्डादि-यज्ञकाण्डत्रयकल्पनं जानाति सत्यं, तर्हि मायया मृतो भूत्वा सकलज्ञाननाशं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ८१ ॥

---

१. सुखद वृक्ष इक।
२. विषय कछु।
३. छौ छत्री निपात युग।
४. अमित कछु।
५. ताहि समाई।
६. वत सारे साज साजिया।
७. देखु।
८. बपुरा युक्ति।
९. होत सकल; 'नहिं तो'-अतिरिक्त।
१०. 'च' का यहाँ उपयोग व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है। 'पुण्ये' के बाद चाहिए।

सुख रूप वृक्ष की कल्पना से ही संसार की उत्पत्ति हुई है। इसमें विषय विषरूप हैं यह माया के कारण ज्ञात नहीं होता। छः चक्र वाले चार युग इसके पत्ते है और पाप-पुण्य फल हैं। इन फलों का अकथनीय स्वाद सब को मोहित करता है। दृष्टि बाँध कर तमाशा दिखाने वाला नर ही असली बात जानता है, उसी प्रकार मोहित व्यक्ति आत्मा का चरित और युक्ति नहीं जान पाते जैसे शिव, शक्ति, ब्रह्मा आदि की उत्पत्ति। जो यज्ञ आदि की कल्पना सत्य जानता है वह माया से मोहित है और वह उसे मारती ही है।

रमैनी-८२[1]

ए जियरा ते अपना[2] दुःख हि संहारू। जे दुःख व्यापि रहल संसारू ।।
माया मोह बद्धा सभ[3] लोई। अल्प लाभ मूल गौ खोइ ।।
मोर तोर में सभै विगूचा। जननी उद्ग (उदर)[4] गर्भ महँ सूता ।।
इ बहु खेल खेले बहु रूपा[5]। जन भवरा अस गये बहूता ।।
उपजे विनसे जोनि फिर आवे। सुख के लेश सपनेहु नहिं पावे[6] ।।
दुख संताप कष्ट बहु पावे[7]। सो न मिला जो जरत बुझावे ।।
मोर तोर महँ जरे जग सारा। धिक् स्वार्थ झूठा[8] संसारा ।।
झूठी मोह रहा जग लागो। इन तें भागि बहुरि पुनि आगो ।।
जेहि हित के राखे सभ लोइ। सो अयान वंचा[9] नहिं कोई ।।

आपु आपु चेते नहीं, कहों तो रूसिया[10] होय।
कहहिं कबीर इ सपने, जागे निरथि[11] न होय ।।८२।।

---

१. सं. बी. ब. में इस रमैनी की संख्या ८४ है।
२. यह शब्द अतिरिक्त है; दुख, सम्हारू; संसारू।
३. बँधा सब; अलपे।
४. सबै विगूता। उदर गर्भ; पहले 'उद्ग' लिखकर प्रथम अक्षर के बाद कुछ ऊपर 'य' बनाया है।
५. रूता।
६. उपजि विनसि योनिहिं फिरि आवे। दुख सन्ताप कष्ट बहु पावे।
७. सुख के लेश स्वप्नहुँ नहिं पावे।
८. धिक स्वारथ झूठो।
९. जिहि; सब; सयान बाँचा।
१०. रुसुआ।
११. जे सपने; अस्ति निरस्ति न होय।

अथात्मानमेवावशिचक्षियति (अथात्मानमेवावशिक्षयति)-ए जियरेति। हे जीवात्मन्, त्वं स्वीयं दुःखं स्वीकुरु, जे=यःदुदुखं संसारेव्याप्तम्। लोई=महानपि मायाकृतकर्मादिमार्गेषु बद्धः। अल्पलाभाय मूलं ज्ञानं नाशितम्। मोर तोर—ममेदं तव (वे)दमित्यज्ञानेन सर्वं व्याप्तम्। मातुरुदरे जन्मादि माययैव। अयं क्रीडाप्रकारात्मनः न ज्ञात अतः बहवो ज्ञाननष्टाः[१२]। अतएव जन्म मरणादि, भवति।

सुखलेशः स्वप्नेऽपि न। बहुदुःखं प्राप्तो यस्तस्यापहारकः कोऽपि न मिलितः। ममत्वादिषु सर्वं जगद्दहति। स्वार्थोयमिति मन्यते। तं धिगिति। असन्मोहे सर्वे लग्नाः, अतो नानायोनिषु मुहुर्मुहुर्भ्रमन्ति। यमज्ञात्वा संसारं हितं मन्यते, स कोऽपि जीवितः?[१३] आयुः स्वल्पम्; [तथापि] न चेतति। यदि वदामि [एतत्], तर्हि रोषं करोति। कबीर=शास्त्रं वदति स्वप्ने, जागे, सत्यं मनुते स व्यर्थमेव जन्म नाशयतीति भावः॥ ८२॥

हे जीवात्मन् माया के कारण संसार भर में दुःख व्याप्त है। और इसमें तू भी बँध गया है। संसार में सब जगह 'मेरा-तेरा ही है। इसी कारण तू भी अनेक योनियों में भ्रमण कर रहा है। कबीर कहते हैं कि यह सारा स्वप्न है। इसे सच मत मान।

रमैनी-८३[१]

तहिया होते गुप्त अस्थूल न काया। न ताके शोक ताकी पै माया[२]॥
कमल पत्र तरंग एक माहीं। संग हि रहें लिप्त पै नाहीं॥
आस बोस अंड महँ रहई। अगनित अंड न कोई कहई॥
निराधार अधार ले जानी। राम नाम ल उचरी[३] बानी॥
धर्म कहे सभ पानी अहई। जात[४] के मन पानी अहई॥
ढोर पतंग सरे घरियारा। तेहि पानी सभ करे अचारा॥
फंद छोड़ि जो बाहर होई। बहुरि पंथ न हिं जोहे सोई॥

---

१२. यह वाक्य बिल्कुल अशुद्ध है।='अयं क्रीड़ा प्रकार आत्मनो न ज्ञातोऽतः बहवोऽज्ञानेन नष्टाः' चाहिए।

१३. इस वाक्य में प्रातिपदिक में लिङ्गभेद और धातु में प्रत्यय भेद है। कदाचित्— यमज्ञात्वा संसारं मोहितं मन्यते, स कोऽपि जीवितः" चाहिए।

१. सं. बी. ब. में इस रमैनी की संख्या ७४ है।

२. तहिया गुप्त स्थूलु न काया। ताके शोक न ताके माया॥

३. ले उचरी।

४. जाती।

भर्म के[5] बाँधल ई जगत, कोइ न करै विचार ।
एक हरि के भक्ति जाने बिना, भौ[6] बूड़ि मुवा संसार ।।८३।।

तर्हियैति । तदा तत्र निर्गुणे आत्मनि देहाः स्थूलादयो न सन्ति । तस्मिन्न केऽपि[7] । तस्यैव मायाकारणत्वात् । यथा कमलपत्रं रंगे=जलतरङ्गे एकीभूतं दृश्यते, सङ्गे तिष्ठन्न लिप्यते । एवमात्मा जगतीति भावः । 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' इति भगवद्वाक्यात् । अण्डे=ब्रह्माण्डे ।

आस वासनेति । सा ओस=शून्यैव । ब्रह्माण्डानामगणितत्वं वक्तुं न शक्यते । यद्धर्मादि, तज्जलतरङ्गवदेव । मनोऽपि जलतरङ्गवत् । भेदः कल्पित एवेत्यर्थः । यन्निराधारं वस्तु आत्मा तस्यैवाश्रयः । अतो नाममात्रं वाण्योच्चार्यम् । धर्म कहे=पर्वो वाग्धर्मो जलमयः जातके=जात्यादि जलमयमेव । ढोर पतंगेति । सर्वोप्याचारो जलमय एव । माया जलतरङ्ग इति भावः । फन्द=मोहपाशं छित्वा संसाराद्बहिर्यो भवति, स पुनर्जननादि न प्राप्नोति । भर्मेति । ई=इदं सर्वं जगत् भर्मेण (भ्रमेण) बद्धं स्वविचारं न करोति । एकेति । आत्मस्वरूपज्ञानं विना सर्वो जनः संसारे मृत इति भावः ।। ८३ ।।

इस माया को छोड़ कर तुझे निर्गुण स्वरूप बनना है । वह निर्गुण स्वरूप जिसमें वासना नष्ट हो जाती है, जिसमें सब जल तरंग ही है । वह निर्लेप है, वही सत्य स्वरूप आत्मा है । वह निराधार है, जिसका नाम मात्र वाणी उच्चारण करती है । जाति, पशु पक्षी-सभी आचार आदि भी जल-तरंग ही हैं । यह माया-जाल है । इस मोह-पाश को तोड़ कर जो बाहर निकलता है, वह जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है । सारा जगत् भ्रममय है, यह जानकर आत्म-ज्ञान का विचार कर ।

रमैनी-८४

छत्री करे छत्रिया धर्मा । सवाई वाके बाढ़[2] कर्मा ।।
जिन्हि अवधू गुरु ज्ञान लखाया । ताकर मन तहई ले धाया ।।

---

५. भरमक ।
६. 'एक' और 'भौ'-अतिरिक्त ।
७. पोथी में इस शब्द के बाद भी 'न' लिखा है । 'तस्मिन्न कोऽपि इति न (?) अर्थात् सब का समावेश या लयन उसमें हो जाता है ।
१. सं. बी. ब की सख्या ८३ ।
२. वाके बढ़े सवाई कर्मा ।

छत्री सो जो कुटुंब सो[3] जूझै। पांचौं मेटि एक को बूझै ॥
जीव मारि जीव प्रतिपाले। देखत जन्म आपनी हारे ॥
हालै करे निसाने घाऊ। जूझि परे तहँ मन्मथ[5] राहू ॥

मन्मथ मरे न जीवे, जीवहि मरन न होय।
शून्य सनेही राम बिनु, चले अपन पव खोय ॥८४॥

अतः प्रसिद्धक्षत्रियवद्वासनारूपं राजानं स्वज्ञानशौर्येण यो जयति; स एव लोकं न पुनः प्राप्नोति; स एव धन्य इत्याह—छत्रीति। छत्री=अज्ञानकर्मणि चतुरो यस्स यदि धर्मं करोति, तस्य कर्मणो वारं वारं वृद्धिरेव भवति। तिन्हीति। येन सद्गुरुणा ज्ञानरूप आत्मा दर्शितः, ता कर=तस्य मतं गृहीत्वा, घाया=तृप्तो, भवति। अतः स एव शूर इत्याह=छत्रीति। यः कुटुम्बदेहजननसामग्र्या युध्यति, स शूरः। पाँचों=पञ्चतत्वान्यसदिति मत्वा, तानि दूरीकृत्य, एकमद्वितीयमात्मानं जानीयात्। यदि, जीव मारी=केवलं हिंसां कृत्वा देहं बिभर्ति, तर्हि स्वयमेव नश्यति। हालेति। हाले=शीघ्रं, निसाने=लक्ष्ये वेधः कर्तव्यः। तत्र वासनाराज्ञा योद्धव्यम्। वासनां त्यक्त्वा=निर्वासनो भूत्वा स्वसुखं ज्ञयमित्यर्थः।

मन्मथेति। इदमपि मायाकल्पितं यन्मन्मथवासना न जायते, न (नापि) नश्यति। जीवोऽपि न नश्यति। तर्हि यत (यतः?) शून्ये संसारे प्रीतिं कृत्वात्मज्ञानं विना यो देहं त्यजति, स आत्मघातीत्यर्थः ॥ ८४ ॥

वासनारूपी राजा का अपने ज्ञान-शौर्य से पराभव करने वाला धन्य है। वासना तो बढ़ती ही जाती है। जिस सद्गुरु ने ज्ञान रूप आत्मा का उपदेश दिया, उसके मन का अनुसरण करके तृप्त हो। पंचतत्त्व असद् हैं यह मान कर उन्हें दूर कर दे और केवल आत्म-तत्त्व को जाने। लक्ष्य वेधी बन कर वासना छोड़ और सुखी बन! यह सब माया-जाल हैं। वासना न तो उत्पन्न होती है, न नष्ट होती है। जीव भी नष्ट नहीं होता। यह मान कर भी यदि इस शून्य संसार में तेरी प्रीति है, तब तो तुझे आत्म-ज्ञान हो ही नहीं सकता और तू आत्मघाती है।

इति श्रीमत्सद्गुरुपूज्यकबीरचरणाब्जभृंगायमानबोधानन्देन विरचितायां विज्ञानबीजकप्रकाशिकायां रमैनीव्याख्या संपूर्णा ॥ श्री सद्गुरुचरणारविन्दार्पणमस्तु ॥

---

३. कुटुम से।
४. आपनो।
५. मनमथ।
६. पा; इस साखी के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्ध विपरीत कर दिए हैं।

संकेत-सूचि

अ०	—	अध्याय
दे०	—	देखिए
प०	—	पढ़िये
क० ग्र०	—	कबीर ग्रन्थावली श्यामसुन्दर दास सम्पादित नागरी प्रचारिणी सभा काशी, १९६८
कबीर	—	हजारी प्रसाद द्विवेदी, बम्बई, १९६०
कबीर	—	विजयेन्द्र स्नातक, राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली,
कबीर कोश	—	परशुराम चतुर्वेदी, इलाहाबाद, १९८३
शुक्ल	—	रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास, १९८०
विचार	—	कबीर साहब के बीजक पर साधु श्री विचारदास
	—	जी की टीका, काशी, सं० १९८३
स० नि० स०	—	सगुण और निर्गुण साहित्य, आशा गुप्ता, साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, ३९७०
ना० स० सा०	—	नाथ और सन्त साहित्य, नागेन्द्रनाथ उपाध्याय काशी हिन्दु विश्वविद्यालय १९५५
र०	—	रमैनी
सं० बी० ग्रन्थ	—	संस्कृत बीजक ग्रन्थ, प्रथम भाग, बड़ौदा, १९५०
इ० ए०		इडियन् एंटिक्वेरी (शोध-पत्रिका-अंग्रेजी)

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः

बी-4, कुतुबसांस्थानिकक्षेत्रम्, नवदेहली-110016